दयानन्द-दर्शन

[PHILOSOPHY OF SWAMI DAYANAND]

(आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० के लिये स्वीकृत
[illegible] का संशोधित व परिवर्द्धित रूप)

लेखक :

डा० वेद प्रकाश गुप्त

(पी-एच० डी०)

दर्शन विभाग

मेरठ कॉलिज, मेरठ।

CENTRE FOR KALA KENDRA
2115
NAGAR

प्रकाशक :

प्रकाशन प्रतिष्ठान

सुभाष बाजार, मेरठ।

द्वितीय संस्करण]

[मूल्य ३·५०

प्रकाशक :

डॉ० विद्याभूषण भारद्वाज

एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रकाशन प्रतिष्ठान

सुभाष बाजार, मेरठ।

शाखाएं :

साहित्य-संस्थान
नवीन शाहदरा
दिल्ली

साहित्य-सदन
नजीबाबाद
(बिजनौर) उ० प्र०

© डॉ० वेद प्रकाश गुप्त

मुद्रक :

नव युगान्तर प्रेस

शारदा रोड, मेरठ।

भूमिका

महर्षि दयानन्द इतिहास में एक महान् समाज सुधारक के रूप में देखे जाते हैं। पहिले-पहिल इसी रूप में मैंने भी उनको जाना था। परन्तु जैसे-जैसे मैंने उनके दार्शनिक विचारों का अध्ययन किया मुझे दयानन्द में उच्च कोटि की दार्शनिक प्रतिभा का दर्शन हुआ। बचपन में न तो मैं आर्यसमाजी वातावरण में पला और न मेरी शिक्षा ही किसी आर्यसमाजी संस्था में हुयी। मेरी शिक्षा का सारा ही काल स्कूल व कालिजों के वातावरण में बीता। अतः मैं यह अनुभव करता हूँ कि यदि मैं किसी विद्वान आर्य सन्यासी अथवा दार्शनिक के चरणों में दर्शनों का अध्ययन करता तो सम्भवतः वैदिक-दर्शन के विषय में कुछ गहराई से जान पाता। कालिज में विद्यार्थी काल में ही मुझे महर्षि के अनुपम ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश को पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ। इससे पूर्व मेरे मस्तिष्क में भी श्री स्व० शंकराचार्य जी के अद्वैतवाद की गहरी छाप थी। परन्तु ज्यों-ज्यों मैंने महर्षि के ग्रन्थों का अध्ययन किया तो मुझे पता चला कि दयानन्द दार्शनिक प्रतिभा में अपने पूर्वाचार्यों से अधिक ही हैं। स्वामी जी के अकाट्य तर्कों व प्रमाणों के सम्मुख मुझे अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैत इत्यादि दार्शनिक मत फीके लगने लगे। मैंने पी—एच० डी० की उपाधि के लिये इसी विषय को सर्वथा उपयुक्त समझा। सात वर्ष के परिश्रम से पूर्वी व पश्चिमी दार्शनिकों का अध्ययन कर यह पुस्तक बनाई। इस पर मुझे पी-एच० डी० की मुझे उपाधि आगरा विश्व विद्यालय से प्राप्त हुयी।

स्वामी जी के दार्शनिक विचार उपरोक्त सभी आचार्यों से भिन्न हैं। दयानन्द वैदिक दर्शन को किसी एकाधवाद या मत के आधार पर नहीं देखते, वरन् उन्होंने वैदिक दर्शनों को उनके वैदिक आधार पर रखा। उनकी वैदिक दर्शन को सबसे बड़ी देन यह थी कि उन्होंने छहों वैदिक दर्शनों में समन्वय को बताया है। दयानन्द से पूर्व प्रायः सभी आचार्य षड्-वैदिक-दर्शनों में विरोध को देखते थे। महर्षि ने वेद को आधार बनाकर षड्-वैदिक-दर्शनों में एक ही दार्शनिक प्रणाली व विचारों का प्रतिपादन कर विश्व-दर्शन को एक नवीन दृष्टिकोण दिया है।

दयानन्द की दार्शनिक विचारधारा को मैंने यथार्थवादी त्रैतवाद की संज्ञा दी है। क्योंकि दयानन्द तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्म-जीव-प्रकृति इन तीनों को अनादि सत्य मानते हैं अतः यह त्रैतवाद है। तथा आपके मत में संसार की सत्ता सत्

है। यह शंकर की माया के समान मिथ्या नहीं है। इससे मैंने इसे यथार्थवाद कहा है। आपके दर्शन में आदर्शवाद (Idealism) में उत्पन्न होने वाली कमियें नहीं हैं, साथ ही यथार्थवादी होते हुये भी दयानन्द में भौतिकवाद की कमियें भी नहीं हैं।

इस पुस्तक में मैंने दयानन्द के मनोविज्ञान व नीतिशास्त्र सम्बन्धी विचारों का भी सूक्ष्म में वर्णन किया है। इस विषय को कभी किसी और पुस्तक में विषद् रूप से उठाऊंगा।

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण अब से दो माह पूर्व निकला था जिसका आर्य जनता में स्वागत हुआ। मेरे पास अनेक आर्य सज्जनों व दर्शन प्रेमियों का आग्रह आया कि इस पुस्तक को सस्ते संस्करण में छपवाया जाय। पहिला संस्करण थोड़ी मात्रा में होने से मंहगा था। प्रकाशक महोदय ने पुस्तक की मांग को देखते हुये इसका यह सस्ता संस्करण छपवाया है। इसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।

मैंने इस पुस्तक को अत्यन्त सरल भाषा में लिखने का प्रयास किया है जिससे जन-साधारण स्वामी दयानन्द के दार्शनिक विचारों को जान सके तथा जिस प्रकार शंकर का माया का सिद्धान्त आज जन-साधारण के विचारों में समाया है उसी प्रकार दयानन्द का यथार्थवाद भी जन-साधारण का दर्शन बन सके।

इस पुस्तक में जहां भी आवश्यक समझा पूर्वी व पश्चिमी दार्शनिकों तथा विभिन्न धर्मों पर निष्पक्ष भाव से समालोचना की गयी है। यह पुस्तक पक्षपात की भावना से हटकर बनाई गयी है। मेरी अल्प बुद्धि में यदि दयानन्द के विचार भी न आ सके तो मैंने अपनी उनसे असहमति बतायी है। इससे विद्वान् यह न समझे कि मैं कोई विद्वान हूं वरन् यह तो मेरी बुद्धि की अल्प ग्रहण-शक्ति का प्रश्न है। यदि कोई विद्वान मेरी त्रुटियों की ओर संकेत करने की कृपा करेंगे तो मैं उन्हें समझने पर सहर्ष स्वीकार करूंगा।

७७६/११ ब्रह्मपुरी,
निकट ट्यूबवैल ब्रह्मसिंह
मेरठ–२।

—वेद प्रकाश

प्रकाशकीय

गुरुडम, पाखण्ड, अन्धविश्वास आदि के सागर में डूबते हुए हिन्दू धर्म को उबारने वाले एवं वैदिक संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने वाले सत्यान्वेषी महर्षि दयानन्द का योगदान अविस्मरणीय है। सत्यार्थ प्रकाश से उन्होंने आर्यजनों के मानस में ज्ञान का प्रकाश फैलाया। ज्ञान के इस प्रकाश से विधर्मी भी चमत्कृत हुए बिना नहीं रह सके।

महर्षि के इस योगदान से तो सभी परिचित हैं किन्तु उनके दार्शनिक विचारों की सुस्पष्ट एवं वैज्ञानिक व्याख्या से अधिकांश आर्यजन अपरिचित हैं। स्वामी दयानन्द के दार्शनिक विचारों का विधिवत् गवेषणापूर्ण अध्ययन सरल एवं सुबोध शैली में प्रस्तुत करके, मेरठ कॉलेज के दर्शन विभाग के प्रध्यापक डॉ० वेद प्रकाश गुप्त ने पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

आर्य जगत् के प्रतिष्ठित विद्वानों के बराबर आग्रह पर हमने इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया किन्तु कारण विशेष से इसकी प्रतियां अधिक न छपवाई जा सकीं। इस कारण इसका मूल्य अधिक हो गया। प्रथम संस्करण छपते ही आर्य जगत् में इसका बहुत बड़ा स्वागत हुआ। मूल्य अधिक होने के कारण आर्य विद्वानों ने इसके सस्ते संस्करण का इसलिये आग्रह किया कि यह प्रत्येक आर्यजन की थाती बन सके। इसी भावना से प्रेरित होकर हमने इसका सस्ता संस्करण प्रकाशित किया है।

इस ग्रंथ की विशेषता इसी से लक्षित है कि विभिन्न विश्वविद्यालयों ने इसे एम० ए० के पाठ्यक्रम में स्थान देने का निश्चय किया है।

नवयुगान्तर प्रेस के अधिष्ठाता श्री वीरेन्द्र जी ने अपने अत्यधिक व्यस्त क्षणों में जिस निष्ठा के साथ इसका मुद्रण मेरठ में होने वाले आर्य समाज शताब्दी समारोह से पूर्व कर दिया है वह श्लाघ्य है एवं उनके आर्य प्रेम का परिचायक है। एतदर्थ वे बधाई के पात्र हैं।

—डॉ० विद्याभूषण भारद्वाज
एम० ए०, पी-एच० डी०

विद्वानों की सम्मतियां

१—दयानन्द-दर्शन शोध ग्रन्थ प्रत्येक आर्य समाज के पुस्तकालय एवं आर्य समाजी के लिये आवश्यक है।

आचार्य बृहस्पति,
एम. ए., वेद शिरोमणि, पूर्व कुलपति
गुरुकुल विश्वविद्यालय-वृन्दावन

ओ३म्

२—पिछली कई शताब्दियों से वैदिक आर्य दृष्टिकोण के सम्बन्ध में पर्याप्त भ्रान्तियां चली आ रही थीं। महर्षि दयानन्द जी ने उन भ्रान्तियों को दूर किया। महर्षि के विचारों को भी जनसाधारण को बोधगम्य कराने के लिये और विद्वानों में उठने वाले विवादों के समाधान के लिये महर्षि दयानन्द के विचारों पर भाष्य-पल्लवन-टीका-टिप्पणी की अति आवश्यकता है।

डॉ० श्री वेद प्रकाश जी गुप्त ने 'दयानन्द-दर्शन' पर शोध ग्रन्थ लिखकर एक बड़ी खटकने वाली न्यूनता की पूर्ति की है। मैं डॉ० जी को एतदर्थ बधाई देता हूं और स्वाध्यायशीला सत्यान्वेषी जनसाधारण से सामान्य रूप से और आर्यसामाजिक पुरुषों तथा आर्य समाज से विशेष रूप से आग्रह करना चाहता हूं कि इस सुन्दर ग्रन्थ को अपनावें। आर्य समाज के पुस्तकालयों के लिये तो यह एक आवश्यकीय संग्रह का ग्रन्थ है।

उमाकान्त उपाध्याय
आचार्य
आर्य समाज—कलकत्ता

५-३-७३
१९, विधान सरणि
कलकत्ता—६

विषय-सूची

अध्याय पृ० सं०

१. दयानन्द और वेद १—३९

प्राचीन व आधुनिक मतों का सिंहावलोकन, दयानन्द की वेद-भाष्य प्रणाली, बहुदेवतावाद-हीनोथियिज्म व एकेश्वरवाद, ब्रह्म, सृष्टि रचना, पुनर्जन्म, कर्म व कर्मफल, मोक्ष, मुक्ति से पुनरावृत्ति।

२. दयानन्द और उपनिषद् ४०—७२

वेद-ब्राह्मण व उपनिषद्, दयानन्द और उपनिषद् दर्शन, उपनिषदों में त्रैतवाद—ब्रह्म, जीवात्मा व प्रकृति, उपनिषदों में ब्रह्म व जीव का भेद. उपनिषदों में ज्ञान, कर्म व उपासना।

३. दयानन्द व षड्दर्शन ७३—१०६

षड्दर्शन समन्वय, षड्दर्शनों में प्रकृति—समन्वयात्मक दृष्टिकोण—सत्कार्यवाद व असत्कार्यवाद, वैशेषिक का परमाणुवाद तथा सांख्यों का गुणवाद, ब्रह्मसूत्रों (वेदान्त दर्शन) में प्रकृति की विद्यमानता, वेदान्त दर्शन में ब्रह्म-जीव में भेद, सांख्य में ईश्वरवाद।

४. ईश्वर १०७—१३८

ईश्वर-सिद्धि में प्रमाण, ईश्वर का स्वरूप—ईश्वर व ब्रह्म पर्यायवाची हैं, ओ३म् ईश्वर का सर्वोत्तम नाम, अनादि, सर्वशक्तिमान, निराधार, सर्वज्ञ, सृष्टि का निमित्त कारण, सच्चिदानन्द, अद्वितीय, अवतारवाद का खण्डन, एकेश्वरवाद व बहुदेववाद, एकेश्वरवाद व सर्वेश्वरवाद (Pantheism), शंकर व रामानुज मतों पर विचार।

५. जीवात्मा १३९—१७५

आत्मा की सिद्धि में प्रमाण, जीवात्मा का स्वरूप—जीवात्मा अनादि है, जीवात्मा के लक्षण, जीवात्मा अल्पज्ञ है, जीवात्मा व मन का सम्बन्ध, जीवात्मा का अणु परिमाण तथा जैन मत की आलोचना, जीवात्मा अनेक हैं, जीवात्माओं की समानता, कर्त्ता व भोक्ता, पुनर्जन्म

धारण करता है, शरीरस्थ चेतना की तीन अवस्थायें, बन्ध व मोक्ष स्वभाव से नहीं,—मोक्ष, मुक्ति के साधन, मुक्ति में जीवात्मा की स्थिति, मुक्ति से पुनरावृत्ति, दयानन्द व अन्य वैदिक दार्शनिक—शांकर मत का खण्डन, विज्ञान भिक्षु, भास्कर, बल्लभ, रामानुज आदि के मतों पर विचार।

६. प्रकृति १७६—२१३

विश्व की वास्तविकता—भौतिकवादी विचारधारा, प्रत्ययवादियों के विचार, प्लेटो, प्लेटो की समालोचना, बर्कले, बर्कले की समालोचना, भारतीय दर्शन में आदर्शवाद, स्वामी दयानन्द का यथार्थवाद, दयानन्द की प्रकृति की धारणा, कार्म-कारणवाद, परिवर्तन, दिक् और काल, सृष्टि वृत्तान्त।

७. प्रमाण-विद्या २१४—२४०

दयानन्द का प्रमाण-शास्त्र, ज्ञाता की सत्ता, ज्ञेय का अस्तित्व, आठ प्रमाण—प्रत्यक्ष, निर्विकल्पक व सविकल्पक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव, इन्द्रियजन्य ज्ञान की सत्ता, मिथ्या ज्ञान, सत्य ज्ञान का स्वरूप।

८. मनोविज्ञान २४१—२६१

दयानन्द के मनोवैज्ञानिक विचारों का आधार, अन्तःकरण चतुष्ट्य, सूक्ष्म शरीर, पांच प्राण, कारण शरीर, मन व इन्द्रियें, सत्व, रज व तम का मन व इन्द्रियों पर प्रभाव, योग व मन संयम, योग का अर्थ।

९. नीतिशास्त्र २६२—२८४

जीव की कर्म-स्वतन्त्रता, नीतिशास्त्र का आधार तत्त्वशास्त्र, परमशुभ अर्थात् मोक्ष, सुखवाद, तपश्चर्यावाद व कर्म-सन्यास मार्ग, कर्म व ज्ञान का समन्वय, नैतिक धर्म, कर्म द्विविधा।

—:०:—

१

दयानन्द और वेद

आर्यों के जीवन में वेदों का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्राचीन काल से ही वेद ईश्वरीय ज्ञान के रूप में श्रद्धा व आदर की भावना से स्वीकार किए जाते रहे हैं। परन्तु वेद मन्त्र अत्यन्त गूढ़ एवं रहस्यमय हैं। इनकी एक विशिष्ट छन्द रचना है जो सनातन ज्ञान को अपने में छिपाये रहती है। वेद-मन्त्रों की इस गम्भीरता तथा विशिष्ट छन्द रचना के कारण साधारण तो क्या संस्कृत भाषा में पारंगत मस्तिष्क भी इनके रहस्यों को नहीं समझ पाता। इसी कारण प्राचीन काल से ही वेदों के भाष्य करने की पद्धति पायी जाती है। परम्परा के अनुसार रावण हमारे सामने वेदों के सर्वप्रथम भाष्यकार के रूप में आते हैं, परन्तु इनका वेद-भाष्य पूर्णरूप से उपलब्ध नहीं है। पश्चात्वर्ती भाष्यकारों में स्कन्द-स्वामी, उद्गीथ, वररुचि भट्टभास्कर, महिधर, उव्वट व सायण प्रसिद्ध भाष्यकार हैं। इन भाष्यकारों में सायण का भाष्य सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इन्होंने चारों वेदों का भाष्य किया है। सायण के भाष्य का प्रभाव उनके बाद के भाष्यकारों पर स्पष्ट देखने को मिलता है। परन्तु सायण के वेद-भाष्य में वेद की आत्मा व विचारधारा का सही-सही विकास नहीं हुआ। इनका भाष्य कर्मकाण्डपरक है, ये वेद-मन्त्रों के कर्मकाण्डात्मक भाष्य की धुन में मन्त्रों के वास्तविक अर्थ व अभिप्राय—जो मूलरूप में सनातन ज्ञान-विज्ञान का परिचायक है—को ही भूल जाते हैं।[1] परिणामस्वरूप सायण का वेद-भाष्य एक ऐसा भाष्य है, जिसमें मन्त्रों के वास्तविक अभिप्राय को अत्यन्त संकुचित बना दिया

---

१. "प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते। एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता···अतः कर्माणि वेदस्य विषयः। तदवबोधः प्रयोजनम्।"
(सायणाचार्य कृत काण्व संहिता भाष्य की उपक्रमणिका से)

गया है तथा जो वेद की महान् प्रतिष्ठा को, उसके ज्ञान को एकदम बुद्धि विरुद्ध कर देता है।

उन्नीसवीं शताब्दी में, सायण के भाष्य के आधार पर ही योरोपीय विद्वानों ने वेदों के विषय में एक नवीन विकासवादी मत का प्रतिपादन किया। इस मत के अनुसार वेद आर्य जाति की प्रारम्भिक अवस्था से विकास का वृत्तान्त हैं। इन विद्वानों की व्याख्या प्रकृतिपरक है, जो कि सायण के भाष्य में प्राप्त होने वाले प्रकृतिवादी विचारों से ली गई है। ये लोग यद्यपि प्रतिभाशाली, साहसी और कल्पना की उड़ान में स्वच्छन्द थे। परन्तु इनकी प्रतिभा व कल्पना-शक्ति वेद की गम्भीर पहेलियों को सुलझाने में असमर्थ रही। इसका मुख्य कारण यह था कि वे वेद की भाषा, छन्द-रचना व अमर काव्य को नहीं समझ सके। उन्होंने अपने भाष्यों में वेदों में वर्णित रूपकों का ब्राह्मणों, उपनिषदों व पुराणों में प्राप्त गाथाओं व ऐतिहासिक तत्वों से सम्बन्ध बताकर, वैदिक गाथा शास्त्र, वैदिक इतिहास व वैदिक सभ्यता का नवीन मत खड़ा किया, तथा भाषा-विज्ञान की पद्धति से इनका सम्बन्ध ग्रीक साहित्य से बनाने की चेष्टा में तुलनात्मक गाथाशास्त्र एवं तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का सृजन किया। योरोपीय विद्वानों के इस निष्कर्ष पर पहुँचने में तीन मुख्य कारण थे—(१) उन्हें वैदिक परम्परा व साहित्य का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं था तथा उन्होंने प्राचीन ऋषियों की नैरुक्तिक प्रणाली को छोड़ दिया था, (२) सायण का भाष्य इनका मार्गदर्शक था तथा (३) पश्चिमी विद्वानों को वेद से कोई सहानुभूति नहीं थी,[1] जिससे वे

---

१. "वेद की प्राचीन धर्म पुस्तक उस पाण्डित्य के हाथ में आयी, जो परिश्रमी, विचार में साहसी अपनी कल्पना की उड़ान में प्रतिभाशाली, अपने निजी प्रकाशों के अनुसार सच्चे परन्तु फिर भी प्राचीन रहस्यवादी कवियों की प्रणाली को समझने के अयोग्य था। क्योंकि वह उस प्राचीन संस्थान के साथ किसी प्रकार की भी सहानुभूति न रखता था, वैदिक अलंकारों और रूपकों के अन्दर छिपे हुये विचारों को समझने के लिए, अपने बौद्धिक व आत्मिक वातावरण में उसके पास कोई मूल सूत्र नहीं था" वेद रहस्य, भा० १, पृ० ३० ले० श्री अरविन्द। अनुवादक अभय' १९४८।

भारतीय विद्याओं के बारे में वास्तविकता को जानने का प्रयास करते। वेदों के सम्बन्ध में उनके वास्तविक अभिप्राय को बताने वाले किसी मार्गदर्शक नियम के अभाव में पश्चिमी विद्वानों ने अपने वैदिक विचारधारा के निर्माण में अधिकतर अटकलबाजी से काम लिया है। श्री अरविन्द का तो स्पष्ट कहना है कि पश्चिमी वेदज्ञों की वैदिक विचारधारा केवल मात्र कल्पना की रेत पर खड़ी है।[1]

उपरोक्त वर्णित इन दोनों ही प्रयासों (पूर्वी व पश्चिमी) का मूल्यांकन करने पर पता चलता है कि आचार्य सायण के अनुसार तो वेद केवल कर्मकाण्ड की एक ऐसी पुस्तक है जिसके मन्त्रों में कोई पारस्परिक संगति नहीं है। तथा योरोपियन विद्वानों के अनुसार वेद आर्य जाति की आदिम काल से उपनिषदों के प्रारम्भ तक की मानसिक अवस्था का लेखा है, जिसे वैदिक कवियों ने छन्दबद्ध कर दिया है। इसमें कहीं भी ऊंचे विचार नहीं हैं, बल्कि ये बर्बर, आदिम व असभ्य गडरियों के गीतमात्र हैं।[2] वेद के रचने वाले प्रकृति की शक्ति की पूजा करते थे, उनके प्रकोपों से बचने के लिये यज्ञ किया करते थे, वैदिक ऋषि मूर्ख परन्तु श्रद्धालु उपासक थे।[3] वेद गाथा शास्त्र हैं[4] और दार्शनिक विचार, वे तो

---

१. "वेद रहस्य, भाग १ पृ० ३१, श्री अरविन्द : अनुवादक 'अभय' १९४८।

२. "वेद के विषय में आधुनिक सिद्धान्त इस विचार से प्रारम्भ होता है, जिसके लिये सायण उत्तरदायी है, कि वेद एक ऐसे आदिम जंगली और अत्यधिक बर्बर समाज की सूक्ति संहिता है जिसके नैतिक व धार्मिक विचार असंस्कृत थे, जिसकी सामाजिक रचना असभ्य थी और अपने चारों ओर के जगत् के विषय में जिनका दृष्टिकोण बिल्कुल बच्चों का था। वही पृ० ३१।

३. "This was the final outcome of religious thought..... ending with a belief in one great power, the unknown rather the unseen God, worshipped though ignorantly worshipped through many years by the poets of vedic age."

(The Vedanta Phiiosophy, p. 22, by Max Muller third reprint, Calcutta)

४. See 'Vedic Mythology' by A. A. Macdonell.

बाद में उपनिषदों में उत्पन्न हुए। इनके अनुसार वेदों में एकेश्वरवाद नहीं बल्कि बहुदेवतावाद है। वेदों में मांसभक्षण है, यज्ञों में पशु-बलि का विधान है, जुआ है और सोम के रूप में सुरा है।

स्वामी दयानन्द के काल तक वेदों के सम्बन्ध में इन सभी भारतीय व पाश्चात्य विचारधाराओं का समुचित विकास हो चुका था। दयानन्द ने देखा कि इन दोनों ही मतों से, वेद के गूढ़ रहस्यों के प्रकाश में आने के स्थान पर उनके भ्रान्त अर्थों का प्रचार किया जा रहा है। जिसके परिणामस्वरूप वैदिक दर्शन व संस्कृति कलंकित हो रही है। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप स्वामी दयानन्द ने उन्नीसवीं शताब्दी में (स्वामी दयानन्द मैक्समूलर के समकालीन थे) वेद के विषय में, एक तीसरी महान् विचारधारा का सृजन किया। उनका वेद सम्बन्धी मत इन दोनों ही, सायण द्वारा प्रचलित भारतीय एवं पाश्चात्य विचारधाराओं से एकदम भिन्न था। वे वेद को न तो केवल वैदिक कर्मकाण्ड की पुस्तक मानते थे और न आदिम बर्बर आर्य जाति के गीत। वेद के सम्बन्ध में उनकी दो मुख्य मान्यतायें थीं—(१) वेदों के ज्ञान का प्रकाश ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में अग्नि, अंगिरा, वायु व आदित्य नामक चार ऋषियों के अन्तःकरणों में मानव-जाति के ज्ञान व कल्याण के लिये किया तथा (२) सनातन सर्वज्ञ परमात्मा का ज्ञान होने से वेद में सारा ज्ञान-विज्ञान बीज रूप में वर्तमान है, इसी से वेद स्वतः प्रमाण हैं। उनकी यह मान्यतायें उनके वैदिक साहित्य के गम्भीर अध्ययन पर आधारित हैं।

वेद के ईश्वरीय ज्ञान में प्रमाण

वेद ईश्वरीय ज्ञान है दयानन्द की इस मान्यता का विवेचन हमें दो प्रकार से करना है, प्रथम तो वैदिक साहित्य—ब्राह्मण, उपनिषद् व दर्शन ग्रन्थों में प्राप्त प्रमाणों के आधार पर तथा दूसरे तर्क के आधार पर।

(अ) वैदिक साहित्य के प्रमाण—जहां तक वैदिक साहित्य का प्रश्न है, सारा का सारा वैदिक साहित्य दयानन्द के इस मत की पुष्टि करता है कि वेद सनातन सत्य को अपने अन्दर छिपाये हैं तथा ईश्वर ने इनका प्रकाश सृष्टि के प्रारम्भ में ऋषियों के शुद्ध अन्तःकरणों में किया था। शतपथ ब्राह्मण कहता है

कि ऋग्वेद का प्रकाश अग्नि पर, यजुर्वेद का वायु तथा सामवेद का सूर्य नामक ऋषियों पर हुआ।[1]

इसी प्रकार श्वेताश्वेतरोपनिषद् मनुस्मृति, वैशेषिक शास्त्र, योग, सांख्य, वेदान्त आदि सभी एक स्वर में वेदों को ईश्वर से उत्पन्न मानते हैं और इसी से उन्हें स्वतः प्रमाण मानते हैं।[2]

परन्तु इसके साथ ही हमारे सामने एक अन्य दुविधा पैदा हो जाती है कि वेदों में मन्त्रों के साथ-साथ उस मन्त्र के द्रष्टा ऋषियों के नाम संयुक्त पाये जाते हैं। इससे भी वेदों को मनुष्यकृत मानने वालों को भ्रांति हो गई है। उनका कहना है कि वेदों के हर मंत्र के साथ उसके निर्माता ऋषि का नाम संयुक्त है इससे ये मनुष्यकृत हैं।

इसके उत्तर में स्वामी दयानन्द हमारे सामने यह विचार रखते हैं कि मन्त्रों के साथ जिन ऋषियों के नाम आते हैं वे मन्त्र-निर्माता नहीं वरन् मन्त्र-द्रष्टा थे।[3] मन्त्र-द्रष्टा से स्वामी दयानन्द का तात्पर्य उस ऋषि से है, जिसने उस मन्त्र के रहस्य को साक्षात् किया है, अर्थात् जो मन्त्र के अर्थ का प्रकाशक है। मूल वेद के देखने से पता चलता है कि वेदों में मन्त्रों के साथ ऋषियों के नाम

---

१. "तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेः ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः।" श० ब्रा० ११-५-२-३।

२. "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो व वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।" श्वेताश्वेतरोपनिषद् ६-१८।

"अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्।" मनुस्मृति, १-२३।

"तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्।" वैशेषिक सूत्र १-१-३।

"स एष पुर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।" योग सूत्र १-२६।

"शास्त्रयोनित्वात्।" वे० द० १-१-३।

"निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्।" सां० द० ५-५१।

३. "वे (ऋषिगण) तो मन्त्रों के अर्थ प्रकाशक थे" सत्यार्थप्रकाश, पृ० २०५ दयानन्दकृत (सार्वदेशिक प्रेस संस्करण द्वितीय बार सं० २०११)

संयुक्त है। किसी-किसी वेद-मन्त्र के साथ तो सौ-सौ ऋषियों के नाम हैं तथा अनेक वेद-मन्त्र तो ऐसे भी है जो वेदों में अनेक स्थानों पर दोहराये गये हैं, साथ ही भिन्न-भिन्न स्थलों में उनके ऋषि भी भिन्न-भिन्न हैं। ऐसी स्थिति में वैदिक विकासवादी कल्पना का मत मानना निरापद नहीं होगा। क्योंकि इस काल्पनिक मत को मानने पर हमारे सामने यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि क्या एक ही मन्त्र का अनेक ऋषियों द्वारा भिन्न-भिन्न काल में निर्माण हुआ होगा और हमारे विचार से इस प्रकार की यह कल्पना वेदबुद्धि व साधारण बुद्धि दोनों के ही विपरीत है। इस समस्या का हल ऋषियों को मन्त्रों के अर्थ प्रकाशक मानने पर ही हो सकता है जैसा कि निरुक्त भी कहता है 'साक्षात्कृत धर्माण ऋषियो बभूवुः' (नि० १—१९)। आधुनिक युग के महान् वेद विचारक श्री अरविन्द और श्री धर्मदेव विद्यामार्तण्ड दोनों ही इस विषय पर स्वामी दयानन्द से सहमत हैं।[1]

दूसरे यदि हम तर्क से भी देखें तो मानव जाति के ज्ञान के लिये किसी बीजरूपी ज्ञान की परम आवश्यकता है। विकासवादियों का कथन है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान न होकर आर्यों के बौद्धिक विकास का वृत्तांत मात्र है, जो उन्होंने अनेक सदियों में प्राप्त किया था। वे किसी भी प्रकार के सनातन-ज्ञान के विरुद्ध हैं। महर्षि दयानन्द विकासवादियों के इस सिद्धांत से सहमत नहीं हैं। उनका तर्क है कि बिना बीज के जिस प्रकार कोई अंकुर पैदा नहीं होता, उसी प्रकार बिना बीजरूप ज्ञान के ज्ञान का विकास भी नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए यदि किसी नवजात बालक को किसी निर्जन स्थान में इस प्रकार रखा जाय कि उससे किसी भी प्रकार का भाषण आदि न किया जाय, भोजनादि की व्यवस्था भी इस प्रकार हो कि कोई पुरुष उसके किंचित भी सम्पर्क में न आये। तब क्या वह किसी प्रकार का ज्ञान स्वमेव उत्पन्न कर सकता है।[2] हमारे

१. "ऋषि सूक्त का वैयक्तिक रूप से निर्माता नहीं था, वह तो द्रष्टा था एक सनातन सत्य का और एक अपौरुषेय ज्ञान का।" वेदरहस्य, भा० १ पृ० ११, श्री अरविन्द।

२. "दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग २ पृ० २७३, शताब्दी संस्करण।

विचार से ऐसी अवस्था में ज्ञान की उत्पत्ति असम्भव है। इसका स्पष्ट प्रमाण अन्य जन्तुओं द्वारा पाले जाने वाले बालक हैं, जो यदा-कदा शिकारियों को मिल जाते हैं।[1] दूसरा उदाहरण हमारे सामने अफ्रीका महाद्वीप का है, जिस समय योरोपीय जातियें अफ्रीका के गहन जंगलों में पहुँचीं, वहां उन्हें अनेक वन्य जातियों से साक्षात् हुआ जिनका व्यवहार पशुतुल्य था। परन्तु गोरी जातियों के सम्पर्क में यही जातियें कुछ ही वर्षों में सभ्य जातियों की श्रेणियों में आ गयीं। यदि विकासवादियों का सिद्धांत सही होता तो विकास के सिद्धांत के अनुसार इन में भी ज्ञान-विज्ञान का विकास स्वतः ही होना चाहिये था। परंतु ऐसी बात नहीं है। योरोपीय जातियों से ज्ञान प्राप्त कर अफ्रीकियों ने उसका विकास किया है। वेद के विषय में स्वामी दयानन्द का भी यही कथन है कि 'जैसे बड़े वन में मनुष्यों को बिना उपदेश के यथार्थ ज्ञान नहीं होता किन्तु पशुओं की नाईं उनकी प्रवृत्ति देखने में आती है वैसी ही स्थिति वेद के उपदेश के बिना सब मनुष्य जाति की होती"।[2] उपरोक्त विवेचन से पता चलता है कि मनुष्य जाति के बीजरूप ज्ञान के लिये किसी ईश्वरीय ज्ञान की नितांत आवश्यकता है।

स्वामी दयानन्द का वेद के सम्बन्ध में दूसरा दावा यह है कि वेदों में समस्त ज्ञान-विज्ञान है। इस विषय में दयानन्द का कहना है कि प्रथय तो ईश्वर का ज्ञान होने से वेद अपने आप में पूर्ण हैं। दूसरे ईश्वर ने यह ज्ञान मनुष्यों के ज्ञान व कल्याण के लिये दिया अतः इनमें मनुष्योपयोगी समस्त ज्ञान-विज्ञान होना ही चाहिये।

वेदों का विषय—दयानन्द ने वेद में निहित ज्ञान को मुख्य रूप से चार विषयों में बांटा है, एक विज्ञान अर्थात सब पदार्थों को यथार्थ रूप से जानना, दूसरा कर्म, तीसरा उपासना तथा चौथा ज्ञान।[3]

---

१. इस प्रकार एक भेड़िये द्वारा पालित बालक रामू का उदाहरण हमारे सामने है। उस बालक ने बहुत प्रयत्न करने पर भी अपना पशु व्यवहार नहीं छोड़ा।

२. दयानन्द ग्रन्थमाला, पृ० २७३, शताब्दि संस्करण।

३. दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग २ पृ० ३१०।

विज्ञान—विज्ञान से दयानन्द का तात्पर्य ज्ञान की उस प्रणाली से है, जिसमें ज्ञान, कर्म व उपासना इन तीनों के समुचित उपयोग से परमेश्वर से लेकर तृणपर्यन्त समस्त पदार्थों का साक्षात् बोध होता हो, तथा मानव जाति के अभ्युदय व निश्रेयस की प्राप्ति में उनका यथावत् उपयोग होता हो। इस प्रकार विज्ञान वेदों का मुख्य विषय है। स्वामी दयानन्द विज्ञान के भी दो रूप मानते हैं (१) ईश्वर का यथावत् ज्ञान एवं उसकी आज्ञाओं का पालन तथा (२) पदार्थ-विद्या का ज्ञान अर्थात् पदार्थों के गुणों व उपयोग को जानना। इन दोनों में दयानन्द ईश्वर-विषय को ही वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय बताते हैं।[१]

कर्म—कर्म में वे कर्मकाण्ड को लेते हैं, जिससे जीवन में परमार्थ व लोक व्यवहार की सिद्धि होती है। कर्मकाण्ड से स्वामी जी का तात्पर्य केवल यज्ञ-याग से ही नहीं है वरन् वे उसमें जीवन की समस्त क्रियाओं को सम्मिलित कर लेते हैं।[२]

उपासना—अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति के उपाय करना।

ज्ञान—ज्ञान का अर्थ है "पृथ्वी और तृण से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक-ठीक कार्य सिद्ध करना'।[३] इसे हम आधुनिक विज्ञान के अर्थ में ले सकते हैं। वेद की भाषा में विज्ञान अर्थात् विशेष ज्ञान ईश्वर, आत्मा आदि के ज्ञान को कहते हैं जबकि ज्ञान, प्राकृतिक विज्ञानों (Natural sciences) के अर्थों में आता है।

वेदों में पदार्थ विद्यायें (Natural sciences) हैं या नहीं यह विषय गम्भीर अनुसंधान का है। अभी तक वेदों में से वैज्ञानिक तथ्यों की खोज का किसी भी संस्था द्वारा कोई नियमपूर्वक एवं गम्भीर प्रयास नहीं किया गया है। अतः वेदों में साईन्स को सिद्ध करने के लिये कोई ठोस प्रमाण तो हमारे सम्मुख नहीं है

१. दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग २ पृ० ३१०।

२. 'तत्र द्वितीयो विषयः कर्मकाण्डाख्यः, स सर्वः क्रियामयोस्ति'। वही पृ० ३१४।

३. वही पृ० ३११।

तथापि दयानन्द ने अपनी पुस्तक ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वैदिक मन्त्रों में से विद्युत, तार-विद्या, विमान विद्या, खगोल-विद्या, भूगोल एवं गणित आदि का प्रतिपादन किया है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में, योरोप में भी इनमें से अनेक विद्याओं का विकास नहीं हुआ था और बेतार-विद्या तथा विमान-विद्या का तो प्रारम्भ भी न हुआ था। ऐसी अवस्था में स्वामी जी का वेदों से विमान आदि विद्याओं का प्रतिपादन करना इस बात का स्पष्ट संकेत करता है कि वेदों में पदार्थ विद्यायें (Natural sciences) बीजरूप में अवश्य हैं परन्तु उनको विकसित करने के लिये गम्भीर प्रयासों की आवश्यकता है।[1] वर्तमान युग के महान योगी व विद्वान् श्री अरविन्द तो दयानन्द के इस दावे को हल्का बताते हैं तथा दयानन्द से भी एक हाथ आगे बढ़कर कहते हैं कि "मैं तो यहां तक कहूंगा कि वेदों में कुछ वैज्ञानिक सत्य तो ऐसे भी हैं जिन्हें आधुनिक विज्ञान जानता तक नहीं"।[2] यहां श्री अरविन्द का संकेत मनोविज्ञान आदि से है। वैदिक मनोविज्ञान वास्तव में अपने आप में अद्भुत है तथा भविष्य में विकसित योग-विद्या का बीजरूप है।

पदार्थ विद्याओं (Natural sciences) के अतिरिक्त वेद में नीति-धर्म, राजधर्म, समाज-धर्म, योग आदि अनेक विद्यायें पायी जाती हैं।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि वेद में समस्त ज्ञान-विज्ञान बीज रूप में उपस्थित है तथा बाद में वैदिक ग्रन्थों में ऋषियों ने उसी का विकास किया है।

दयानन्द के इस महान वैदिक प्रयास का यह फल निकला कि वेद, जो अब

---

१. इस विषय को मैं अपनी दूसरी पुस्तक 'वेदों के दर्शन' में अधिक विषद् रूप से उठाऊंगा।

2. "I will even add my own conviction that the Veda contains other truths of science the modern world does not at all possess, and in that case Dayananda has rather understated the depth and range of the Vedic wisdom."

Sir Aurbindo; Bankim Tilak Dayanand p. 57. 3rd Ed.

तक सायण के हाथ में केवल कर्मकाण्ड की पुस्तक थी तथा पश्चिमी विद्वानों के अनुसार प्रकृतिवादी ग्रन्थमात्र थे, जिनमें केवल प्रकृति की शक्तियों की पूजा है, अब एक अध्यात्म तथा ईश्वरीय ज्ञान की पुस्तक हो जाती है। इसमें एक वैज्ञानिक एवं नैतिक धर्म है, जो मनुष्यमात्र के लिये है तथा जिसमें मनुष्य की आध्यात्मिक व सांसारिक उन्नति का सही-सही मार्ग बताया गया है।

दयानन्द की वेद-भाष्य-प्रणाली

ब्राह्मण व उपनिषदों में वेदों के रहस्यों का व्याख्यान पाया जाता है। यह सबसे पहले ग्रन्थ थे जिनमें ऋषियों ने वैदिक मन्त्रों में प्राप्त सूत्रों के आधार पर खोजें कीं। इनमें ब्राह्मण ग्रंथों ने वैदिक कर्म-काण्ड सम्बन्धी सूक्ष्म विधियों की रक्षा की और औपनिषदिक ऋषियों ने वेदों के सूक्ष्म व गंभीर आध्यात्मिक ज्ञान को जो वेद का मुख्य विषय है—प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया। ब्राह्मण ग्रन्थों में वैदिक कर्मकाण्ड की सूक्ष्म विधि को बताने के साथ-साथ उसकी आध्यात्मिक व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। वेद के मंत्र प्रतीकात्मक, आलंकारिक व छन्दबद्ध हैं। इन ग्रन्थों में वेद के प्रतीकवाद व आलंकारिक भाषा को खोलने का प्रयत्न किया गया है परन्तु इनकी गति मुख्य रूप से कर्मकाण्ड तक ही सीमित है। दूसरी ओर उपनिषदों में ब्रह्म-ज्ञान को अपना मुख्य विषय बनाया है। उन्होंने वेद-मंत्रों में प्राप्त ब्रह्म को अपनी आध्यात्मिक अनुभूति अर्थात् ध्यानसमाधि द्वारा पुनरुज्जीवित किया तथा मोक्ष-प्राप्ति के लिये ब्रह्म-ज्ञान की महत्ता पर बल दिया। औपनिषदिक ऋषियों के लिये वेद के मंत्र उनके विचार और दर्शन के लिये बीजरूप थे।

इन ग्रन्थों में वैदिक शब्दों के स्वरूप को ठीक-ठीक जानने के लिए तथा उनके अर्थों को वेद की भावना के अनुकूल समझने के लिये एक विशेष विधि का सहारा लिया गया है। इस विधि के अनुसार शब्दों के धात्वर्थों की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। वैदिक शब्द जैसे कि वह मन्त्रों में प्रयुक्त हुये हैं अनेकार्थवाची हैं। इनके अर्थ विषय के सन्दर्भ के अनुसार बदलते रहते हैं। अतः वेद के शब्दों के सही-सही अर्थों को जानने के लिये हमें शब्द की मूल धातु तक जाना पड़ता है। जैसे यज्ञ शब्द है इसका साधारण अर्थ है एक विशेष धार्मिक कृत्य को पूर्ण करने के लिये अग्नि प्रज्वलित करना और उसमें आहुति डालना।

परन्तु इसके धात्वर्थ को देखें तो सब प्रकार के श्रेष्ठतम कर्मों को यज्ञ कहा जा सकता है जैसा कि शतपथ ब्राह्मण कहता है 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' (श ब्रा० १–७–१–५)। यज् धातु के अर्थ हैं देवपूजा, संगतिकरण व दान। तैत्तिरिय ब्राह्मण में समस्त भुवनों को यज्ञ का नाम दिया गया है, ('यज्ञो वै भुवनम्' तै० ब्रा० ३–३-७-५)। इससे वक्ता ऋषि का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि समस्त ब्रह्माण्ड परमात्मा द्वारा रचा हुआ होने से एक वृहद यज्ञ है। इस प्रकार ब्राह्मण व उपनिषद् ग्रन्थ इस बात का निर्देश करते हैं कि वेद के अर्थों को जानने के लिये भाषा के रूढ़िगत स्वरूप से कोई सहायता नहीं मिल सकती। वेद की प्रतीकात्मकता को समझने के लिये, उसके रूपकों को खोलने के लिये, वेद के शब्दों का यौगिक अर्थ लेना चाहिये, जो शब्द का सम्बन्ध सीधे उसकी मूल धातु से कराता है। निरुक्त वेद के शब्दों का ठीक इसी प्रकार अर्थ करता है। जैसे देव शब्द को ही लीजिये, निरुक्त कहता है 'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीतिवा यो देवः सा देवता'। (नि० ७-१५) अर्थात दान देने से देव है, प्रकाश करने से देव है, उपदेश करने से देव है तथा द्युस्थान में स्थित होने से देव है। इसमें हर वह पदार्थ जिसमें उपरोक्त कोई भी गुण है देव की कोटि में आ जाता है, फिर चाहे वह जड़ हो या चेतन।

महर्षि दयानन्द ने वेद-भाष्य की इसी प्राचीन नैरुक्तिक प्रणाली को अपनाया।[1] वे वेद के शब्दों को यौगिक मानते हैं रूढ़ि नहीं। यौगिक शब्द वह होते हैं जो कि अपने अर्थ निर्णय के लिये अपनी धातु पर निर्भर करते हैं। लेकिन जब शब्द किसी वस्तु या परम्परागत अर्थ से सीमित हो जाते हैं वह रूढ़ कहलाते हैं। जैसे वृक शब्द है, इसका रूढ़ि अर्थ है भेड़िया, और जब भी वृक बोल जाता है हमें तुरन्त भेड़िये का स्मरण हो जाता है। परन्तु वृक का धात्वर्थ है चीर फाड़ देने वाला अर्थात् विदारक। भेड़िया विदारक प्रकृति का पशु होने से इस अर्थ में आ जाता है, परन्तु यहां पर वृक शब्द से सदैव भेड़िया ही अभिप्रेत

१. 'इस वेद भाष्य में अप्रमाण लेख कुछ भी नहीं किया जाता है, किन्तु जो ब्रह्मा से लेकर व्यास पर्यन्त ऋषि और मुनि हुए हैं उनकी जो व्याख्या रीति है उससे युक्त ही यह वेद भाष्य बनाया जाएगा।'

दयानन्द ग्रन्थमाला भा० २ पृ० २६१।

नहीं है। हम वृक का प्रयोग हर उस जीवधारी के लिये कर सकते हैं जो विदारक प्रकृति का हो। वेद में शब्दों का प्रयोग इसी रूप में किया गया है और दयानन्द इसमें ठीक हैं। उन्होंने अपनी दिव्य दृष्टि से वेद के सम्बन्ध में की जाने वाली मूल त्रुटि को पहिचान लिया और सिंहनाद किया कि वेद के वास्तविक अर्थों को जानने के लिये प्राचीन ऋषि मुनियों के मार्ग पर चलो, जिसके आधार पर प्राचीन ऋषियों ने आध्यात्मिक व वैज्ञानिक सत्यों की खोजें की थी। दयानन्द की भाष्य-प्रणाली के औचित्य को महान योगी अरविन्द ने भली-भांति समझ कर घोषणा की कि 'दयानन्द ने ऋषियों के भाषा सम्बन्धी रहस्य का मूल सूत्र हमें पकड़ा दिया हैं।'[1]

वेद के शब्द रहस्यों से भरपूर हैं, जिनको दिव्य ज्ञान के आदि सृष्टा ने रूपकों व अलंकारों में बाँध कर अमर कर दिया है। ये एक ऐसे दिव्य ज्ञान की ओर संकेत करते हैं जो स्वरूप में आध्यात्मिक है तथा जिसको भाषा की साधारण पद्धति समझने में सर्वथा असफल है। और प्राचीन ऋषियों की नैरुक्तिक पद्धति को अपनाते ही वेद के मन्त्र, एक सुपात्र विद्वान के लिये रहस्यों को ढकने वाले अपने किवाड़ खोल देते हैं। फिर तो सारे ही वेद-मन्त्रों में एक नियमबद्ध ज्ञान का बोध हो जाता है और तब वेद एक दिव्य ज्ञान की पुस्तक हो जाती है जिसमें एक उच्च कोटि का दर्शन भी मिलता है। पश्चिमी विद्वानों के अनुसार अभी तक वेदों में किसी भी प्रकार के बौद्धिक दर्शन का अभाव पाया जाता रहा है। परन्तु महर्षि दयानन्द के महान् प्रयास से वेदों का एक बौद्धिक दर्शन हमारे सन्मुख आता है। यह दर्शन, एक ऐसा दर्शन है जो उपनिषदों व वैदिक षड्-दर्शनों का मूल स्रोत है तथा जिसके आधार पर हम वेद व उपनिषदों में तथा वैदिक षड्-दर्शनों में आपस में समन्वय स्थापित कर सकते हैं।

दयानन्द वेदों में एक यथार्थवादी दर्शन का प्रतिपादन करते हैं। इसको हम त्रैतवाद कहेंगे। त्रैतवाद के अन्तर्गत दयानन्द ईश्वर, जीव व प्रकृति तीन सत्ताओं को अनादि मानते हैं। दयानन्द के अनुसार वेद का मुख्य विषय ईश्वर है। परन्तु वेदों में वे बहुदेवतावाद अथवा बहुएश्वरवाद को नहीं मानते।

१. वेद रहस्य, भा० १, पृ० ४३, श्रीअरविंद।

दयानन्द वेदों में एकेश्वरवाद को मानते हैं। वेदों का एकेश्वरवाद ही औपनिषदिक ऋषियों का ब्रह्मवाद है। वेद में ईश्वर, जीव व प्रकृति, कर्म व कर्मफल, पुनर्जन्म और मानव की सबसे बड़ी समस्या परम निःश्रेयस के प्राप्ति सम्बन्धी विचार मूलरूप से सुरक्षित पाये जाते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि वेद में परा विद्या नहीं है वरन् इनमें अपरा विद्या पाई जाती है। परन्तु दयानन्द की घोषणा है कि वेदों में परा और अपरा दोनों विद्यायें हैं,[1] तथा वेदों का परम तात्पर्य सर्वशक्तिमान परमात्मा का बोध कराना है इससे यह परा विद्या प्रधान है।[2]

बहुदेवतावाद–हीनोथियिज्म व एकेश्वरवाद

मध्य युग से ही वेदों के विषय में यह धारणा चली आ रही है कि इनमें अनेक देवताओं की पूजा है, इससे ये बहुदेवतावादी ग्रन्थ हैं। पश्चिमी संस्कृतज्ञों ने इस विचारधारा का बहुत प्रचार किया। इसके विपरीत महर्षि दयानन्द वेद में एकेश्वरवाद को मानते हैं। आपका मत है कि चारों वेद एक ही ब्रह्म को सर्वोच्च मानते हैं और उसी की उपासना का आदेश करते हैं एवं वेद में ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य देवता की उपासना का विधान कहीं भी नहीं है।[3]

वेदों में सर्वत्र ही एक परमात्मा को देवानाम् देवः, परमेव्योमन् तथा सृष्टि का अध्यक्ष आदि विशेषणों से पुकारा गया है। दयानन्द का कहना है कि वायु, सूर्य, उषा आदि प्राकृतिक देव तथा वरुण, रुद्र इत्यादि आध्यात्मिक देव जो वेदों में आते हैं, वे पृथक-पृथक् मनुष्य शरीरधारी या अन्य किसी प्रकार के

१. दयानन्द ग्रंथमाला, भाग–२, पृ० ३११।

२. 'अतः परमोऽर्थो वेदानां ब्रह्म वास्ति।' दयानन्द ग्रंथमाला, भाग–२ पृ० ३१२।

३. (प्रश्न) वेद में ईश्वर अनेक हैं इस बात को तुम मानते हो या नहीं ?

(उत्तर–स्वामी दयानन्द) 'नहीं मानते क्योंकि चारों वेदों में ऐसा कहीं नहीं लिखा जिससे अनेक ईश्वर सिद्ध हों, किन्तु यह तो लिखा है कि ईश्वर एक है।' (सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १७४).

शरीरधारी देव नहीं बल्कि व्यवहार के देव हैं। व्यावहारिक देव से दयानन्द का तात्पर्य है कि ये प्रकृति की शक्तियाँ हैं, जो हमारे जीवन पर प्रभाव डालती हैं या आध्यात्मिक क्षेत्र की कुछ दिव्य शक्तियां हैं जिनसे जीवन की आध्यात्मिकता का सम्बन्ध है। लेकिन किसी भी स्थिति में यह शक्तियां उपासना का विषय नहीं हैं। उपासना का विषय केवल एक ब्रह्म है।[1]

वेद में बहुदेवताबाद है या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम वेद-भाष्य की कौनसी शैली को ठीक समझते हैं अर्थात् प्राचीन नैरुक्तिक पद्धति को अथवा सायण की कर्मकाण्डात्मक या पश्चिमी विद्वानों की नव-निर्मित प्रकृतिवादी पद्धति को। इसका हम पहिले ही विवेचन कर चुके हैं कि वेद के सम्बन्ध में, यदि हमें सत्य को जानना है तब प्राचीन नैरुक्तिक पद्धति को ही अपनाना पड़ेगा। योरोपीय विद्वानों ने अपनी पद्धति के अनुसार देव शब्द के ईश्वर (God) अर्थ ग्रहण किये हैं। देव को ईश्वर समझकर मैक्डोनल साहब ने अपने ग्रंथों में एक अद्भुत देवनगर बना रक्खा है कि सूर्य देवता का रथ सात घोड़े खींचते हैं, उषा देवी कभी सूर्य की पत्नी और कभी माता बन जाती है, इनके मत से उषा हर देवता की प्रणयदायिनी भी है।[2] इन विद्वानों ने वैदिक देवताओं को ग्रीक गाथा-शास्त्र के अपेलो आदि देवताओं से मिलाकर वैदिक गाथा-शास्त्र को मजबूत बनाने की चेष्टा की है और इस प्रकार एक नये तुलनात्मक गाथाशास्त्र का सृजन किया है।

मैक्समूलर महोदय ने वेदों में एक दूसरे ही प्रकार के देवतावाद का प्रतिपादन किया है। उनके विचार में वेदों में तैंतीस देवताओं की उपासना कही गई है और एक स्थल पर तो ऋषि ने ३३३९ देवता गिनाये हैं। परन्तु फिर भी वे इसे बहुदेवतावाद की संज्ञा नहीं देते। क्योंकि वेदों का बहुदेवताबाद ग्रीक व रोमन बहुदेवताबाद से मेल नहीं खाता। ग्रीक व रोम में बहुदेवताबाद

---

१. 'जो दूसरे में ईश्वर बुद्धि करके उपासना करता है वह कुछ भी नहीं जानता।' (द० ग्र० मा०, भाग–२, पृ० ३४३।

२. See 'A Vedic Reader for Students.'
P. 92, By A. A. Macdonell; Reprint 1954.

का अर्थ है एक परमदेव के शासनान्तर्गत अनेक छोटे-बड़े देवताओं का रहना। उनके विचार से वैदिक देवतावाद इससे इसी प्रकार भिन्न है जैसे ग्रामों में सम्मिलित प्रजातन्त्र से राजा का एकतन्त्रवाद। उनका आगे कहना है कि वैदिक ऋषि प्रत्येक देवता को परमदेव मानकर पूजते थे, फिर चाहे वह कितना छोटा भी क्यों न हो। इस वैदिक देवतावाद को मैक्समूलर ने एक नया नाम दिया और वह है कैथेनोथियिज्म अर्थात् एक देवता के बाद दूसरे की उपासना अथवा हीनोथियिज्म अर्थात् पृथक-पृथक देवताओं की पूजा।[1]

दयानन्द के विचार में वेदों में बहुदेवतावाद या हीनोथियिज्म इन दोनों में से एक भी नहीं है। दयानन्द इन दोनों मतों में एक मौलिक भूल की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। चारों वेदों में देव शब्द अनेक मंत्रों में आया है और प्रायः विद्वानों ने इसके अर्थ ईश्वर के रूप में किये हैं, जिससे वेद के वास्तविक अभिप्राय को समझने में कठिनाई हो गई है, क्योंकि देव से ईश्वर को ग्रहण करने पर उसे उपासनीय बना दिया गया है, जबकि वेदों में सदैव ही देव उपासनीय नहीं हैं और विशेष रूप से जब तक कि इससे परमदेव परमात्मा का तात्पर्य न हो। स्वामी दयानन्द का विचार है कि देवता शब्द से ईश्वर का अर्थ लेना वेद के सम्बन्ध में एक भारी भूल है।[2] स्वामी जी यहां पूर्णरूप से निरुक्त के अनुसार हैं। निरुक्त के अनुसार देव शब्द के अर्थ ईश्वर नहीं होते वरन् निरुक्त कहता है "**देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो-**

१. 'It was necessary, therefore, for the purpose of accurate reasoning to have a name different from polytheism, to signify this worship of single gods, each occupying for a time a supreme position, and I proposed for it the name of Kathenotheism, that is a worship of one God after another or of Henotheism, the worship of single God.'

—F. Max Muller. 'India what can It teach us ?

P. 146–147. 1892.

२. 'यह उनकी (वेदज्ञों की) भारी भूल है जो देवता शब्द से ईश्वर का ग्रहण करते हैं।' सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १७५।

भवतीति वा"[1] अर्थात् दान देने से देव है, प्रकाश करने से देव हैं, उपदेश व पालनादि करने से (माता, पिता) देव हैं, द्युस्थान अर्थात् सूर्यादि लोकों का भी जो प्रकाशक है, वह देव है। निरुक्त की इस व्याख्या के अनुसार हर उस पदार्थ को देव माना जा सकता है जिसमें उपरोक्त बताये गुणों में से एक भी हो। इस रूप में सूर्यादि पदार्थ मनुष्यमात्र को लाभकारी होने से देव की कोटि में आ जाते हैं, परन्तु इससे ये शरीरयुक्त अथवा उपासना के योग्य देवता नहीं है। हाँ ये सारे ही विशेषण परमात्मा में प्रयुक्त होने से **परमात्मा देवों का भी देव है** तथा समस्त व्यवहार के देव सूर्य, चन्द्र, रुद्र, मरुत् आदि को अपने शासन में रखने से महादेव कहलाता है। दयानन्द वेदों में दो प्रकार के देव, व्यावहारिक एवं उपासनीय मानते हैं। उनके मत में सूर्य, चन्द्र, रुद्र आदि व्यवहार के देव हैं तथा किसी भी रूप में उपासना का विषय नहीं है वरन् इनमें से कुछ पार्थिव हैं और कुछ प्रकृति की शक्तियाँ हैं तथा कुछ परमात्मा की शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा परमदेव संसार पर शासन करता है। वेदों में उपासना का विषय केवल एक परमात्मा है जिसको ऋषिगण अनेक नामों से पुकारते हैं। महर्षि दयानन्द के अनुसार वेदों में इसी परमदेव (परमात्मा) की उपासना का विधान है अन्य किसी देवता का नहीं।[2] वेदों में एकेश्वर की उपासना है या अनेक देवताओं की इस विषय पर वेदों से सीधा सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण ग्रंथ तो निश्चय ही पश्चिमी वेदज्ञों से अधिक प्रामाणिक होंगे और हम देखते हैं कि शतपथ ब्राह्मण स्पष्ट कहता है कि जो परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य देवता की उपासना करता है वह पशु के समान है।[3] इस रूप में दयानन्द वास्तविक वैदिक विचारधारा व भावना के बहुत समीप हैं।

वेदों में प्रायः इन्द्र, मरुत्, सूर्यादि देवताओं के लिये उन सभी विशेषणों

---

१. निरुक्त, ७–१५।

२. 'व्यवहार के देवताओं की उपासना कभी नहीं करनी चाहिए किन्तु एक परमेश्वर ही की करनी उचित है।' दयानन्द ग्रंथमाला, भा० २ पृ० ३३६।

३. योन्यां देवतामुपास्ते न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्॥ शतपथ ब्राह्मण १४–४–२, कन्डि १६, २२।

का प्रयोग किया गया है, जो परमात्मा के लिये ही उपयुक्त हैं। ऐसे ही स्थलों पर मैक्समूलर साहब को हीनोथियिज्म की भ्रान्ति हो गई प्रतीत होती है। जबकि तथ्य यह है कि वैदिक द्रष्टा ऋषि उस एक परमात्मा को अनेक नामों से पुकारते हैं और वे सब ईश्वर के गौणिक नाम हैं। दयानन्द कहते हैं कि जहां कहीं भी इन्द्र या किसी अन्य देवता को परमात्मा के लिये प्रयुक्त होने वाले सर्वशक्तिमान आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है, वहाँ उससे परमात्मा का ही बोध करना चाहिए क्योंकि केवल ईश्वर ही सर्वशक्तिमान है तथा वही उपासना का विषय है। आगे दयानन्द कहते हैं कि आर्य लोग सृष्टि के आरम्भ से ही इन्द्र, वरुण तथा अग्नि आदि नामों से वेदोक्त प्रमाण के अनुसार एक ही परमात्मा का ग्रहण करते रहे हैं तथा उसी की उपासना करते आये हैं। वेदों में किन-किन स्थलों पर इन्द्रादि देवताओं के नामों से परमात्मा का बोध करना चाहिये, इसकी कसौटी के रूप में दयानन्द हमें प्रकरण और विशेषण का नियम बताते हैं कि जिस-जिस स्थल पर वेदों के मन्त्रों में स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण दिये हैं, वहां पर देवताओं के नामों से परमेश्वर के अर्थ ग्रहण करने चाहिए क्योंकि सर्वज्ञत्व सनातनता, शुद्धता व सृष्टिकर्तृत्व आदि गुण केवल परमात्मा में ही हो सकते हैं।[1]

इस प्रकार दयानन्द हमें वेद की मूल भावना एकेश्वरवाद को समझाने के लिए, हमारे मार्गदर्शक के रूप में एक सूत्र दे देते हैं कि वेद में "अग्न्यादि नामों से मुख्य अर्थ परमेश्वर ही का ग्रहण होता है"[2] तथा 'जहां-तहां स्तुति, प्रार्थना उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण लिखे हैं वहीं-वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है।"[3]

वेद स्वामी दयानन्द के विचार का समर्थन करते हैं या नहीं, यह निष्पक्ष विचारक एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करने वाले निम्न मन्त्रों से स्वयं ही जान सकते हैं।

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ५।
२. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ५ सा० प्रे० संस्करण।
३. वही, पृष्ठ ५।

"इस सृष्टि में जो कुछ भी चर-अचर संसार है वह सब सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से व्याप्त है।"[१]

"वही (ज्ञान स्वरूप होने से) अग्नि है, (सबको ग्रहण करने से) वही आदित्य है, (अनन्त बलवान होने से) वही वायु है, (आनन्ददायक होने से) वही चन्द्रमा, (शुद्ध भाव युक्त होने से) वही शुभ (महान् होने से) वही ब्रह्म, (सर्वत्र व्यापक होने से) आपः और (सबका स्वामी होने से) वही प्रजापति भी है।"[२]

"हम लोग अपनी रक्षा के लिये उस ईश्वर की, जो जंगम और स्थावर सबका स्वामी है, बुद्धि का प्रेरक है, प्रार्थना करते हैं। वह परमात्मा हमारे धनों की वृद्धि के लिये होवे तथा किसी से न दबने वाले हमारे कल्याण के लिये रक्षक व पालक होवे।"[३]

"विद्वान मेधावी एक सद्रूप परमात्मा का अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं, उसी एक को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि और जो वह अलौकिक उत्तम ज्ञान और उत्तम कर्म वाला गौरवयुक्त है, इसी एक को ही यम और मातरिश्वा वायु भी कहते हैं।"[४]

"हे परमऐश्वर्य सम्पन्न परमेश्वर! आप से भिन्न व द्युलोक में और न पृथ्वी पर हुआ और न होगा, घोड़े, हाथी आदि सवारियों की इच्छा रखते हुए दुग्धादिकों के लिये गौवों की इच्छा करते हुए, ज्ञान और अन्न बलादि युक्त होकर हम आपकी प्रार्थना उपासना करते हैं।"[५]

---

१. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यांञ्जगत्। यजु ४०।१।

२. तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः। यजु ३२।१।

३. तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियं जिन्वमवसेहूमहेवयम्।
पूषानो यथा वेद सामसद् वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये॥
ऋ० अ० १ अ० ६ व० १५ मं० ५।

४. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथोदिव्यः स सुपर्णो गरूत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधावदन्त्यग्निंयमं मातरिश्वानमाहुः। ऋ० १,१६४,४६।

५. न त्वा वां अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते। अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे। सामवेद उत्तरार्चिकः १–४–११।

"तब मृत्यु न थी, न जन्म था, न रात्रि से दिन को पहिचानने का कोई संकेत ही था। वह एक परमात्मा ही अपनी सूक्ष्म सृजन सामर्थ्य के साथ बिना श्वास प्रवास के ढह रहा था और कोई वस्तु उससे परे या सूक्ष्म नहीं थी।"[1]

"वह परमात्मा पोषण करने वाला, वही धारण करने वाला, वही महाबली वायु है और सबका नायक अर्यमा है, वही सबसे श्रेष्ठ वरुण है, वह रुद्र है, वह महादेव है, वही अग्नि है, वही सूर्य है और निश्चय करके वही सबसे बड़ा न्यायकारी महायम है।"[2]

"वह परमात्मा समस्त संसार को विविध प्रकार से देखता है जो श्वास लेता है और नहीं भी लेता, उसको सब प्राप्त है। वह आप ही एक अकेला अपने आप में एक है। सारे देव इसी में एक रूप में स्थित हैं।"[3]

इस प्रकार के अनेक मन्त्र चारों वेदों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं जिनसे यह पता चलता है कि वैदिक मन्त्र स्पष्ट रूप से एकेश्वरवाद का ही प्रतिपादन करते हैं।

लेकिन दयानन्द के इस वेद-सम्बन्धी मत पर ग्रीसवोल्ड सरीखे पाश्चात्य और पाश्चात्यों का अन्धानुकरण करने वाले देशी विद्वान् तुरन्त कह देते हैं कि दयानन्द की वेदों की इस प्रकार की व्याख्या एकदम जंगली और अवैज्ञानिक है।[4]

---

१. न मत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास॥
ऋ० अ० ८ अ० ७ व १७ म० २।

२. सधाता सविधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्वसम्। सोऽर्यमा स वरुणः सरुद्रः स महादेवः। सोऽग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः।
अथर्व० १३–४–३, ४, ५।

३. ससर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न। तमिदं नि गतं सहः स एष एक एकवृदेक एव। सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति।
अथर्व० १३–४–१६–२०–२१।

४. 'The Religion of the Rigveda' p. 109-110. by Griswold.

ग्रीसवोल्ड का यह अपलाप वेदों की शब्दावली को न समझने के कारण ही है तथा उसके अज्ञान का परिचायक है। ब्राह्मण, उपनिषद् व निरुक्त आदि ग्रन्थों में वैदिक शब्दों की यथेष्ट व्याख्या मिल जाती है और दयानन्द ने अपनी विधि इन्हीं से ली है। क्या स्वामी दयानन्द का वेदभाष्य जंगली व अवैज्ञानिक है? ग्रीसवोल्ड द्वारा लगाये इस आरोप का उत्तर हम श्री अरविन्द के शब्दों में यहां दे रहे हैं। "बिल्कुल नहीं, यह तो स्वयं वेद का कहना है कि 'एक ही को विद्वान ध्यान रखो मूर्ख नहीं—कई प्रकार से कहते हैं कभी इन्द्र, कभी यम, कभी मातरिश्वा और कभी अग्नि।'"[1] इसके प्रत्युत्तर में पश्चिमी विद्वानों का कथन है कि वेद के वे मन्त्र जो एक ईश्वर के दर्शक हैं, बाद के बनाये हुए हैं। इतना ऊंचा विचार जो कि अत्यन्त स्पष्ट है या तो किसी तरह से बाद के आर्यों के मस्तिष्क में पैदा हुआ होगा अथवा उन अज्ञानी, अग्निपूजक, सूर्यपूजक, आकाशपूजक, आर्यों ने इस देश के मूल निवासी तथा अपने के पूर्व बसने वाले सुसंस्कृत दार्शनिक प्रतिभायुक्त द्राविडों से लिया होगा। **पाश्चात्य विद्वानों की यह कल्पना बड़ी धृष्टतापूर्ण है। उन्हें वेद के सम्बन्ध में साधारण ज्ञान भी न था। वेद के अध्ययन में इनका मुख्य तात्पर्य वेदों की प्रतिष्ठा को गिराना मात्र था। जिसे वे हर कीमत पर करने को तैयार थे।**

जहाँ तक पश्चिमी वेदज्ञों के पहिले आक्षेप का प्रश्न है, हम पिछले कुछ पृष्ठों पर दिखा आये हैं कि एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करने वाले मन्त्र वेदों में हर स्थान पर मिलते हैं यथा 'तमीशान जगतस्तथुषस्पति' ऋ०अ० १ अ० ६ व० १५ मं० ५ तथा "एकं सद्विप्रा बहुधावदन्ति···" ऋ० १/१६४/४६ यह दोनों मंत्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के हैं। फिर हमारी समझ में नहीं आता कि पश्चिमी विद्वानों ने ऐसा बेहूदा तर्क कैसे दे दिया। दूसरे उनका यह कहना है कि आर्यों ने एकेश्वरवाद द्रविणों से लिया होगा, एक अनर्गल प्रलापमात्र है। पहिले तो भारतवर्ष में आर्यों से पूर्व द्रविणों का होना सन्दिग्ध है, दूसरे यदि दुर्जन तोष न्याय से मान भी लिया जाये, तो अभी तक उनके किसी उच्चकोटि के

---

१. 'Bankim Tilak Dayananda' by Shri Aurobindo, p. 55-56 third reprint. 1955.

धार्मिक विचारों व दर्शन का परिचय तक नहीं मिला है क्योंकि सिन्धु घाटी की खुदाई में प्राप्त मोहरों की लिपि अभी तक सफलतापूर्वक पढ़ी ही नहीं गयी है। तब इन विद्वानों ने पता नहीं आर्यों के लिपिबद्ध ज्ञान को द्रविणों के संदिग्ध ज्ञान से कैसे जोड़ दिया। वास्तव में यह सब पश्चिमी विद्वानों की कल्पनामात्र है। ये वेदों में अपने पूर्वाग्रहों को शक्तिपूर्वक लादना चाहते हैं। इसी कारण वे वेदों में कहीं बहुदेवतावाद को देखते है तो कहीं हीनोथीयिज्म को और कहीं गाथाशास्त्र को।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि वेद एकेश्वरवादी हैं, तथा इनमें प्राप्त एकेश्वरवाद उपनिषदों के ब्रह्मवाद के समान है, और दयानन्द वेदों के विषय में सायण व पश्चिमी विद्वानों से अधिक युक्तिसंगत हैं।

ब्रह्म

वेदों में ऐसे मंत्रों की कमी नहीं है जिनमें एक ऐसी परम सत्ता का निरूपण किया गया है, जो सारे संसार का अनुपम पति और सब भुवनों का एक ही स्वामी है।[1] इसी परमसत्ता का वर्णन 'परम पुरुष' 'सृष्टि का अध्यक्ष' 'देवों का देव' तथा 'ब्रह्म' आदि नामों से अनेक मंत्रों में पाया जाता है।[2]

अब तक के अधिकतर वैदिक विद्वान—विशेषरूप से आधुनिक काल के

---

१. "पतिर्बभूथासमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा।"
ऋ० ६। ३६। ४

२. "सूत्र सूत्रस्य यो विद्यात्स विद्याद्ब्राह्मणं महत्।
अथर्व वेद १०। ८। ३७

"यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्मजना विदुः। यसच्च यत्र सच्चान्त स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।" अथर्ववेद १०। ७। १०।

"ब्रह्माणं ब्रह्मवाहसं गीर्भिः सक्षामृग्मियम्। गां न दोहसे हुवे।"
ऋ० ६-४५-७।

"इयं ब्राह्मी जनयन्तो देवा अग्रे तावब्रुवन्। यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे।" यजु० ३१-२१।

"ओ३म् खं ब्रह्म।" यजु० ४०। १७।

पश्चिमी वेदज्ञ यह मानते चले आये हैं कि वेदों में ब्रह्म-विद्या नहीं है, ब्रह्म-विद्या का विकास वेद के बाद वेदान्त अर्थात् उपनिषदों में हुआ है।"[१]

लेकिन दयानन्द का विचार इसके विपरीत है उनकी तो यह मूल धारणा है कि "वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर के ही प्राप्त कराने और प्रतिपादन करने में है।"[२] वह कहते हैं कि "सब वेद वाक्यों में ब्रह्म का ही प्रतिपादन है कहीं साक्षात् रूप से और कहीं परम्परा से।"[३] दयानन्द अपने इस कथन की पुष्टि में उपनिषदों के प्रमाण देकर यह सिद्ध करते हैं कि उपनिषद भी वेदों में ब्रह्म का ही वर्णन बताती हैं। कठोपनिषद कहता है 'सारे वेद जिसे गाते वह ओ३म् है।"[४] यही नहीं बल्कि ब्रह्म-विद्या का मूल्यरूपेण व्याख्यान करने वाला वेदान्त दर्शन भी स्पष्ट कहता है "वेदों में ब्रह्म का वर्णन पाया जाता है।"[५]

वेदों में ब्रह्म का स्वरूप—वेद किसी ऐसे ईश्वर से सन्तुष्ट नहीं हो सकते, जिससे अधिक शक्तिशाली कोई और देव हो अथवा उसके बराबर की कोई अन्य शक्ति हो। इनमें ब्रह्म को सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक व सर्वज्ञादि विशेषणयुक्त कहा गया है। यही सृष्टि का अध्यक्ष है जो कल्प के आदि में सृष्टि का निर्माण करता है। सृष्टिकाल में पालन करता है तथा प्रलयकाल में संहार कर अपने में लीन कर लेता है। इस परमदेव परमात्मा की ही शक्ति से सूर्यादि पदार्थ अपने-अपने कार्यों में लगे रहते हैं।

---

१. "The conception of Brahaman which has been the highest glory for the Vedanta philosophy of later days had hardly emerged in the Rigveda from the association of the sacrificial mind" ! S. N. Das Gupta 'A History of Indian philosophy." Vol. 1, p. 20 printed 1922

२. दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग २ पृष्ठ ३१४।

३. वही, पृ० ३१३।

४. 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।' कठोपनिषद् १-२-१५।

५. 'तत्तुसमन्वयात्'। वेदान्तदर्शन १-२-४॥

जिस किसी भी सत्ता को सर्वशक्तिमान माना जाता है उसको निराकार और सर्वव्यापक मानना आवश्यक है। वेद आलंकारिक भाषा में परमात्मा की व्यापकता व निराकारत्व का वर्णन करता है कि 'निश्चय ही आप सर्वत्र मुख वाले हैं सब ओर से सबको देख रहे हैं, आप सर्वत्र व्यापक हैं।"[1] 'उसकी महिमा इतनी महान् है कि यह समस्त ब्रह्माण्ड इस परमपुरुष की महिमा के सम्मुख कुछ भी नहीं है बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि मानो सारी सृष्टि उसके एक पाद (अंशमात्र) में वर्तमान है बाकी तीन अमृतमय हैं'[2] जहां संसार नहीं है। ब्रह्म के भाग विशेष नहीं हैं क्योंकि वह सर्वव्यापक है। परन्तु वेद में गम्भीर रहस्यों को रूपकों व अलंकारों के द्वारा बताया गया है। ज्ञान को समझाने की यह प्रणाली, भाषा द्वारा परम तत्त्व के निरूपण में असमर्थता के कारण वैदिक द्रष्टाओं से अपनाई थी। ब्रह्म की सर्वव्यापकता वेद इससे अगले मन्त्र में स्पष्ट कर देता है कि "ब्रह्म इन चारों पादों से भी अतिरिक्त है जिसकी कोई सीमा नहीं है।"[3]

महर्षि दयानन्द के अनुसार चारों वेद इसी एक अद्वितीय परमात्मा की उपासना का आदेश करते हैं। वेदों में एक ब्रह्म की उपासना शुरू से लेकर अन्त तक भरी पड़ी है। अथर्व वेद कहता है 'जो प्रकाशस्वरूप सूर्य जिसकी त्वचा है जो देवताओं (अग्नियादि) के कारण होने वाले दुःखों को दूर करने वाला पूजनीय देव है। वह जगत् का पालक तथा स्वामी एक ही नमस्कार करने योग्य है, सेवा करने योग्य है वह हमको सुख देवे।"[4] मुमुक्षु लोग संसाररूपी समुद्र से पार उतर दुःखों से छूटने के लिये इसी देव की उपासना करते हैं जिससे वह मृत्यु से छूट जाते हैं। वेद निश्चयपूर्वक यह घोषणा करता है कि 'उस आदित्य वर्ण

---

१. 'त्वं हि विश्वतो मुख विश्वतः परिभूरसि'। ऋ० १०-९७-६

२. 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।' यजु ३१-३

३. 'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः। ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि।' यजु० ३१-४।

४. 'दिवि स्पृष्टो यजतः सूर्यत्वगयया हरसो दैव्यस्य। मूर्धा भुवो भुवनस्य यस्पतिरेक एवं नमस्यः सुशेवाः। अथर्व वेद २-२-२।

वाले ब्रह्म को जान कर मृत्यु से छूटा जा सकता है, इसके अतिरिक्त मृत्यु के बन्धन से छूटने का और कोई मार्ग नहीं है।"[1] उपरोक्त संक्षिप्त विवेचन से अब यह स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द के इस कथन में तनिक भी अतिश्योक्ति नहीं है कि वेद ब्रह्म-विद्या के ग्रन्थ हैं तथा उपनिषदों में ब्रह्म-विद्या वेदों से ही ली गई है।

सृष्टि-रचना

वेदों में सृष्टि रचना के विषय में अत्यन्त जिज्ञासापूर्ण वचन मिलते है। वेद के मन्त्र स्वयं ही यह प्रश्न उठाते हैं कि इस जगत का आश्चर्यरूप आधार क्या है? तथा इसकी रचना का आरम्भ-कारण अर्थात् उपादान सामग्री क्या हैं? और वह किस प्रकार से है, जिससे जगत् का सृष्टा जगदीश्वर भूमि तथा सूर्यादि लोकों को उत्पन्न करता हुआ उन्हें अपनी महिमा से विविध प्रकार से आच्छादित करता है।[2] परन्तु वेद की इस जिज्ञासापूर्ण भाषा से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वैदिक द्रष्टा ऋषि सृष्टि-रचना के विषय में संदेहास्पद स्थिति में थे और उनको इसके रचयिता एवं उपादान का पता नहीं था। यह तो वेदों की भाषा एवं पद्धति की विशेषता है कि वह पहिले प्रश्न करते हैं और फिर उत्तर देते हैं। इससे अगले ही मन्त्र में उपरोक्त प्रश्नों का उत्तर हमें मिल जाता है कि 'सर्वत्र जिसकी दर्शन शक्ति है, सर्वत्र जिसका उपदेश हो रहा है, जो सब प्रकार से पराक्रमयुक्त है और सर्वत्र जिसकी व्याप्ति है वह अद्वितीय परमात्मा देव परमाणुओं से पृथ्वी व द्यूलोकों की रचना करता हुआ अपने अनन्त पराक्रम से सब जगत को सम्यक् प्राप्त होता है।[3]

---

१. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। यजु० ३१-१८।

२. 'किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमस्वित्कथासीत्।
यतो भूमिजनयन्विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः।'
यजुर्वेद १७-१८

३. 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः। यजुर्वेद १७-१९
(देखिये महर्षि दयानन्द कृत यजुर्वेद भाष्य।)

दयानन्द के विचार में वेदों में परमात्मा को सृष्टि का रचयिता माना है, जिसकी महिमा व पराक्रम अपार हैं।[1] कहीं-कहीं तो वेद, उपनिषदों जैसी स्पष्टता से परमात्मा को सृष्टि का अध्यक्ष मानते हैं। परमात्मा जगत के भीतर भी व्याप्त है और सृष्टि से परे भी है अर्थात् यह सान्त सृष्टि उस परम पुरुष के सम्मुख कुछ भी नहीं है। वेद कहता है कि असीम सा दीख पड़ने वाला यह ब्रह्माण्ड उस परम देव के केवल एक भाग में स्थित है तथा तीन भाग अमृतमय हैं।[2] परन्तु परमात्मा की महिमा केवल इन चार पादों तक ही सीमित नहीं है वरन् वह इससे भी अनन्त गुना अधिक है।[3] इन मन्त्रों से पता चलता है कि वेद सृष्टि को असीम नहीं मानते वरन् परमात्मा को अनन्त मानते हैं जो सृष्टि में व्याप्त है। वेदों की इस विचारधारा में पश्चिमी ईश्वरवाद (Deism) की सी कमियें नहीं हैं, क्योंकि वेदों के ईश्वरवाद में ईश्वर जगत का निर्माण कर कहीं चला नहीं जाता परन्तु वेदों के अनुसार ईश्वर सृष्टि में व्यापक है और अनन्त होने से सृष्टि से परे भी है। पश्चिमी ईश्वरवाद (Deism) के अनुसार ईश्वर सृष्टि की रचना शून्य से करता है और सृष्टि रचकर सृष्टि से दूर चला जाता है। महर्षि दयानन्द को वेद के सम्बन्ध में यह दोनों बातें मान्य नहीं हैं क्योंकि प्रथम तो शून्य से सृष्टि का निर्माण तर्करहित एवं कोरी कल्पनामात्र है, इसके अतिरिक्त सृष्टि रचकर ईश्वर का सृष्टि से दूर चला जाना इस बात का द्योतक है कि ईश्वर अनन्त व सर्वव्यापी नहीं है और जो सत्ता सर्वव्यापक नहीं है वह सर्वज्ञ भी नहीं हो सकती। ऐसे पुरुष या शक्ति को, जो न सर्वव्यापक है और न सर्वज्ञ ईश्वर नहीं कहा जा सकता। इसके अलावा कुछ विद्वानों का मत है कि वेद में सर्वेश्वरवाद (Pantheism) है। सर्वेश्वरवाद (Pantheism) कहता है

---

१. 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्'। ऋ० मं० १० सू० १२१ मं० १ सत्यार्थप्रकाश २०८ पर दयानन्द द्वारा उद्धृत।

२. 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्य अमृतम् दिवि।' यजु० ३१-३ दयानन्द ग्रंथमाला भा० २ पृ० ४०६ पर उद्धृत।

३. 'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः। ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि।' यजुर्वेद ३१-४

कि ईश्वर ही सब कुछ है अर्थात् ईश्वर की सृष्टि है और ईश्वर ही निर्माता है।[1] महर्षि दयानन्द इसको भी वेद का सही मत नहीं मानते। स्वामी जी की इसमें आपत्ति यह है कि वेदों में परमात्मा को शुद्ध, दृष्टा एवं अपरिणामी कहा है।[2] फिर वह कैसे अपने को सृष्टि के रूप में परिवर्तित करेगा। वह क्यों ज्ञानी से अज्ञानी, आनन्दरूप से दुःखी एवं सत्यरूप से असत्रूप बनना चाहेगा? परमात्मा चेतन है परन्तु सृष्टि जड़ है, परमात्मा सर्वज्ञ है परन्तु सृष्टि ज्ञानरहित है, परमात्मा आनन्द हैं परन्तु सृष्टि आनन्दरहित है। इससे सृष्टि का उपादान ईश्वर नहीं हो सकता।

ईश्वर सृष्टि का निमित्त कारण है—महर्षि दयानन्द के विचार से वेदों में ईश्वर को सृष्टि का निमित्त कारण माना गया है। परमात्मा पूर्व विद्यमान प्रकृति से सृष्टि की उत्पत्ति करता है। ठीक उसी प्रकार जैसे कुम्हार बर्तन बनाने के लिये मिट्टी का प्रयोग करता है। जैसा कि एक वेद मन्त्र में कहा भी है कि 'दो सुपर्ण अर्थात् ब्रह्म और जीव एक ही प्रकृति रूपी वृक्ष पर मित्रतायुक्त साथ-साथ रहते हैं। इनमें से एक (जीव) कर्मफलों का भोग करता है तथा दूसरा (परमात्मा) भोग न करता हुआ केवल उनका प्रकाश करता हैं।'[3] इस मंत्र में द्रष्टा ऋषि तीन अनादि तत्त्वों का संकेत करता है, एक ईश्वर (ब्रह्म) जो सृष्टि का निमित्त कारण है, दूसरा जीवात्मा जिसके भोग के लिये सृष्टि का निर्माण हुआ है तथा तीसरी प्रकृति जो कि सृष्टि की निर्माण सामग्री होने से सृष्टि का उपादान कारण है। दार्शनिक रूप में हम इसी को मूल प्रकृति अथवा प्रकृति

---

1. 'Pantheism is the doctrine that God is all and all is God'. 'Introduction to Philosophy" p. 387 by Patrick—(Revised Edition).

२. देखिये ऋ० ८-९५-७; १-१६४-२०; १-१६४-३९।

३. 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाक शीति॥'

ऋ० १-१६४-२०

की अव्यक्तावस्था भी कह सकते हैं। इसी को सांख्यों ने सत्व-रज व तम की साम्यावस्था वाली अव्यक्त प्रकृति कहा है और स्वामी दयानन्द इसी को परमेश्वर की सामर्थ्य भी कहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी दयानन्द वेदों में प्रकृति के अस्तित्व को बताकर, इन ग्रन्थों को यथार्थवाद की शिला पर लाकर खड़ा कर देते हैं जिसे आगे चलकर हम देखेंगे कि शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित तथा उनके विचार से उपनिषद् सम्मत अद्वैतवाद से लोहा लेना होगा। चाहे आचार्य शंकर ने वेदों को न भी छुआ हो, परन्तु उपनिषदों के सम्बन्ध में वही दार्शनिक व्याख्या सही हो सकती है, जो वेदों की संहिताओं से भी मेल खाती हो। क्योंकि हम देखते हैं कि सब उपनिषदें वेदों को स्वतः प्रमाण मानती हैं, अतः वह मूल वेदों की भावना के विरुद्ध कैसे जा सकती हैं? स्वामी दयानन्द के अतिरिक्त वेदों में प्रकृति के अनादित्व को डा० राधाकृष्णन सरीखे विद्वान स्वीकार तो करते हैं।[1] परन्तु उनकी यह स्वीकारोक्ति दबी हुई भाषा में होने के कारण वैदिक दर्शन के लिये किसी लाभ की नहीं है।

सृष्टि उत्पत्ति वृत्तान्त (नासदीय सूक्त)—सृष्टि बनने से पूर्व प्रलयावस्था में प्रकृति का क्या रूप था, वह किसमें स्थित थी, अव्यक्तावस्था से निर्माण की दिशा उसे किसने दी तथा सृष्टि-निर्माण के क्रम में किन-किन पदार्थों की कैसे-२ उत्पत्ति हुई, इस सब सृष्टि-विद्या का विवरण जितना ऊंचा परन्तु अत्यन्त रहस्यात्मक रूप में वेद के नासदीय सूक्त में मिलता है ऐसा मेरी दृष्टि में किसी भी ग्रन्थ में नहीं आया। यह सूक्त इतना गंभीर एवं निर्देशात्मक है कि बौद्धिक स्तर तक रहने वाले विद्वानों के लिए तो इसमें पहेलियां ही पहेलियां हैं, शायद कोई योगी ही उनको समझ सकता है। प्रलयकाल की अवस्था का वर्णन करते

1. 'In X: 121 we have an account of the creation of the world by an omnipotent God out of pre-existent matter.' Indian Philosophy V. 1 p. 100 by Dr. S. Radhakrishnan, Reprinted Indian Edition 1951.

हुए वेद कहता —

(१) उस समय न असत् था और न सत् परमाणु से भरा अन्तरिक्ष भी नहीं था और न परे का आकाश ही था। उस समय कहां क्या ढका हुआ था और किसके आश्रय से था? क्या बड़ा गंभीर पानी उस समय था?[१]

(२) तब न मृत्यु थी न जीवन, न रात थी न दिन। वह एक (परमात्मा) अपनी शक्ति से ही अथवा स्वधा = प्रकृति के साथ बिना प्राणवायु के प्रणन कर रहा था और उससे परे (श्रेष्ठ) कुछ न था।[२]

(३) (प्रारम्भ में सब कुछ) अन्धकार था और अन्धकार से व्यापी अव्यक्त प्रकृति थी, और यह सब अज्ञेय अवस्था में जल के समान एकाकार था। जो तुच्छ था (परमात्मा के सम्मुख प्रकृति तुच्छ है) वह परमात्मा के तप से एक अर्थात् व्यक्त होने लगा।[३]

(४) इस पूर्व समय में मन का रेतः जो पहले था उसके ऊपर काम अर्थात् संकल्प हुआ। ज्ञानी लोगों ने जान लिया कि असत् में सत् का भाई-पन था।[४]

(५) इन तीनों का किरण तिरछा फैला, नीचे भी आश्चर्यकारी था और ऊपर भी आश्चर्यजनक। वीर्य के धारण करने वाले थे, बलशाली (जीव)

---

१. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नोव्योमाऽपरोयत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गम्भीरम्॥
ऋ० १०-१२९-१

२. न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास॥
ऋ० १०।१२९।२

३. तम आसीत्तमसा गूढहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्। ऋ० १०।१२९।३

४. कामस्तदग्रे समवर्ततधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कव्यो मनीषा। ऋ० १०।१२९।४।

महान् थे। इधर आत्मा की धारणा शक्ति थी और परे प्रयत्न का बल था।[1]

(६) वास्तव में कौन जानता है और कौन कह सकता है कि कहाँ से बनी और कहां से यह विविध प्रकार की सृष्टि हुई है ? देव (अर्थात् विद्वान व सूर्यादि दिव्य पदार्थ) भी बाद में बने। अब कौन यह जानता सकता है, कहां से यह सृष्टि बनी ?[2]

(७) जिससे यह विविध प्रकार की सृष्टि उत्पन्न हुई वही इसको धारण करता है, यदि न करे (तो सृष्टि विनष्ट हो जाय, यहां पर वा निश्चय अर्थ में है।) जो परम व्योम में इसका अध्यक्ष (परमात्मा) है, हे मित्र जीव उसे जान यदि न जानेगा (तो विनष्ट हो जायेगा)।[3]

(इन मन्त्रों के अर्थ प्रायः स्वामी दयानन्द के ग्रंथों से लिये गये हैं जिन पर उनके अर्थ उपलब्ध न हो सके, वे विद्वानों के ग्रंथों से लिये हैं। स्वामी जी का भाष्य केवल मन्त्र १–२–३ व ७ पर मिलता है।)

उपरोक्त मन्त्रों में से पहले मन्त्र पर भाष्य करते हुए दयानन्द लिखते हैं कि इस प्रलयावस्था में असत् अर्थात् दृश्यमान जगत् नहीं था (परिवर्तनशील होने से व्यावहारिक जगत् को वहां असत् कहा है) और सत् अर्थात् अव्यक्त प्रकृति भी नहीं थी, उस अवस्था में परमाणु भी नहीं थे। यहाँ पर यह संशय उत्पन्न होता है कि जब उस अवस्था में सत्व, रज व तम की अव्यक्त प्रकृति भी नहीं थी तब प्रकृति को अनादि कैसे माना जाय ? यह प्रश्न उचित ही है। यहां पर महर्षि दयानन्द का यह कहना है कि प्रकृति अतीव सूक्ष्म होकर परमात्मा की

१. तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः। स्विदासी३दुपरिस्विदासी३त्। रेतोधाआसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्।
ऋ० १०।१२९।५

२. को अद्धावेद क इह प्रवोचत्कुतआजाता कुतइयं विसृष्टिः। अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आ बभूव। ऋ० १०।१२९।६

३. इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद। ऋ० १०–१२९–७

सामर्थ्य में विद्यमान थी।[1] प्रकृति का परमात्मा की सामर्थ्य में लीन होने से दयानन्द का तात्पर्य उसके अभाव से नहीं है बल्कि अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था से है, जो सम्भवतः सांख्यों के प्रधान से भी सूक्ष्म हो। लेकिन जगत् के उपादान की सामग्री के रूप में प्रकृति अवश्य विद्यमान थी। प्रलयावस्था में प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्म होकर परमात्मा की सामर्थ्य में लीन भाव से रहती थी। तीसरे मन्त्र में 'अप्रेकतं सलिलं' का अर्थ अनेक विद्वानों ने गम्भीर अस्पष्ट पानी के रूप में किया है। इनका मत है कि प्रकृति आरम्भ में अस्पष्ट समुद्र के रूप में थी जिसे अन्धकार ने आवृत्त कर कर रक्खा था।[2] लेकिन इस मन्त्र में पहले ही कह दिया है कि अव्यक्त प्रकृति तम से व्यापी हुई थी। यहां पर 'अप्रेकतं सलिलं' कहकर अस्पष्ट गम्भीर जलों से प्रकृति की केवल तुलनामात्र की गई है इससे इन विद्वानों का मत, कि आरम्भ में प्रकृति समुद्र के रूप में थी, भ्रान्त है। प्रकृति की इस प्राक् अवस्था में मृत्यु कैसे हो सकती थी। सूर्य, चन्द्रादि सितारों के न होने से दिन रात भी नहीं थे। परमात्मा के ईक्षण[3] तथा तप से असत् (अव्यक्त) प्रकति सत् (व्यक्त) अवस्था की ओर अग्रसर होने लगी। प्रकृति की पूर्वावस्था इतनी गम्भीर व अस्पष्ट थी कि विद्वान् भी उसके विषय में कुछ नहीं बता सकते और न ही सूर्य, चन्द्रादि चमकीले पदार्थों के आधार पर कोई गणना की जा सकती है, क्योंकि इनकी उत्पत्ति सृष्टि में बहुत बाद में जाकर हुई है। सातवें मन्त्र के अर्थ कुछ भारतीय व पश्चिमी भाष्यकारों ने इस प्रकार

---

१. "किन्तु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परम कारणं संज्ञकमेव तदानीं समवर्त्तत।" दयानन्द ग्रन्थमाला भाग २, पृ० ४०१।

२. (i) "Darkness and space enveloped the undifferentiated water." Vedic Mythology. By A. A. Macdonell.

(ii) "Darkness there was in the beginning all this was a sea without a light." Rigveda X. 129

—Max Muller.

३. 'ईक्षण शब्द का प्रयोग ऐतरेय उपनिषद में परमात्मा के स्वभाव के लिये किया गया है।' "स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।"

ऐ० उपनिषद, अ० १, खण्ड १, मं० १।

किये हैं कि सृष्टि का अध्यक्ष परमात्मा इसे धारण भी करता है या नहीं तथा वह इसे जानता भी है या नहीं। परन्तु दयानन्द के विचारानुसार इस मन्त्र में इस प्रकार की शंका नहीं की जा सकती क्योंकि पूर्व के मन्त्रों में यह स्पष्ट कहा गया है कि परमात्मा सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व ही विद्यमान था तथा उसी के संकल्प व तप से मूल प्रकृति से सृष्टि रचना का कार्य प्रारम्भ हुआ, तब क्या परमात्मा यह नहीं जानता होगा कि सृष्टि उत्पत्ति क्रम कहां से प्रारम्भ हुआ। यह तो साधारण मस्तिष्क भी समझ सकता है कि जिसने सृष्टि का निर्माण किया है वह इसके क्रम को भली-भाँति जानता ही है। अतः हमें इस विषय में स्वामी दयानन्द का भाष्य सर्वथा सुसंगत लगता है। इसके अतिरिक्त 'यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद' का स्वामी दयानन्द अर्थ इस प्रकार करते हैं, 'जिस परमेश्वर के रचने से जो यह नाना प्रकार का जगत् उत्पन्न हुआ है, वह ही इस जगत् को धारण करता, नाश करता और मालिक भी है। हे मित्र लोगों ! जो मनुष्य उस परमेश्वर को अपनी बुद्धि से जानता है, वही परमेश्वर को प्राप्त होता है, जो उसको नहीं जानता वही दुख में पड़ता है।'[1] दयानन्द इस मन्त्र में दोनों स्थलों पर 'वा' को निश्चयार्थ में लेते हैं जब कि पश्चिमी भाष्यकार इसको संशयार्थ में ग्रहण करते हैं।[2]

पुरुष सूक्त में सृष्टि वर्णन—नासदीय सूक्त के अतिरिक्त यजुर्वेद के पुरुष-सूक्त में भी सृष्टि उत्पत्ति का वृत्तान्त पाया जाता है। सूक्त बताता है कि परमात्मा ने ब्रह्माण्ड को इक्कीस प्रकार की सामग्री से रचा और एक-एक लोक के चारों ओर सात-सात परिधियों का निर्माण किया।[3] सूर्य, चन्द्र, भूमि आदि

---

१. "प्रलयावसरे सर्वस्याविकारणे परब्रह्म सामर्थ्ये प्रलीना च भवति। (सोध्यक्षः) स सर्वाध्यक्षः परमेश्वरोऽस्ति। (अंगवेद) हे अंग ! मित्र जीव ! तं यो वेद स विद्वान् परमानन्दमाप्नोति। यदि तं सर्वेषां मनुष्याणां परमिष्टं सच्चिदानन्दादिलक्षणं नित्यं कश्चिन्नैव वेद, वा निश्चयार्थे, स परमं सुखमपि नाप्नोति।" दयानन्द ग्रन्थमाला भाग २, पृ० ४०९।

२. वही, पृ० ४१८।

३. "एक समुद्र, दूसरा त्रसरेणु, तीसरा मेघमण्डल का वायु, चौथा वृष्टि जल और पाँचवां वृष्टि और जल के ऊपर एक प्रकार का वायु, छठा अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिसको धनञ्जय कहते हैं, सातवाँ सूत्रात्मा वायु जो कि धनञ्जय से भी सूक्ष्म है। ये सात परिधि कहाते हैं।" वही पृ० ४१८।

पदार्थों की रचना कर पश्चात् जीवधारियों के शरीरों की पृथक-पृथक जाति के अनुसार रचना की, यथा मनुष्य, घोड़ा, गौ इत्यादि। सब प्रकार के अन्न, जल आदि भूमि व अन्तरिक्ष में पैदा किये और ग्राम व वनों में रहने वाले पशु भी उत्पन्न किये।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण से प्रतीत होता है कि सृष्टि-उत्पत्ति-विद्या वेदों में अत्यन्त वैज्ञानिक रूप में मिलती है। इसके अतिरिक्त रूपक व अलंकारों के रूप में सृष्टि का काफी वर्णन और भी मिलता है। स्वामी दयानन्द इन सब को यौगिक अर्थों से सहज ही वैज्ञानिक रूप दे देते हैं।

पुनर्जन्म, कर्म व कर्मफल

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि दयानन्द के विचार से वेदों में जीवात्मा, परमात्मा से भिन्न एवं अनादि है। आत्मा को शाश्वत मानने पर पुनर्जन्म और पुनर्जन्म के हेतु कर्म सिद्धान्त को मानना आवश्यक हो जाता है।

प्रयोजनवाद का अर्थ है कि सृष्टि का कोई उद्देश्य है। वेद के अनुसार ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण निष्प्रयोजन नहीं किया है। दयानन्द के विचार से सृष्टि का प्रयोजन जीव के लिये भोग व मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करना है। ईश्वर जीव के शुभ व अशुभ कर्मों के फलभोग तथा भविष्य में शुभ कर्मों द्वारा मोक्ष प्राप्ति के लिये सृष्टि का निर्माण करता है। मोक्ष प्राप्ति से पूर्व जीव अपने कर्मों के फल भोगने के लिये संसार में पुनः पुनः जन्म धारण करता रहता है।

पुनर्जन्म—कतिपय विद्वान् वेदों में पुनर्जन्मवाद को स्वीकार नहीं करते। वेदों में पुनर्जन्मवाद पर लिखते हुये डा० राधाकृष्णन् कहते हैं कि वैदिक आर्यों के मस्तिष्क में इह-जीवन ही सब कुछ था, अतः उन्हें मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म पर विचार करने में कोई रुचि न थी। राधाकृष्णन आगे कहते हैं कि वेद के आर्यों के पास पुनर्जन्म के विषय में कोई निश्चित सिद्धान्त न था। हाँ मृत्यु के पश्चात जीवन के बारे में वे अवश्य विचार करते थे परन्तु स्वर्ग व नरक के रूप में। आपके विचार से जीव को मृत्यु के पश्चात स्वर्ग अथवा नरक की

प्राप्ति होती है जहां यम का शासन है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि डा० राधाकृष्णन् वेद-सम्बन्धी अपने विचारों में विशुद्ध रूप से पश्चिमी वेदज्ञों पर आश्रित हैं। इसके विपरीत महर्षि दयानन्द वेदों में पुनर्जन्मवाद को पूर्णरूप से स्वीकार करते हैं। दयानन्द पुनर्जन्म सम्बन्धी वेद मन्त्रों का भाष्य करते हुये कहते हैं "हे सुखदायक परमेश्वर आप कृपा करके पुनर्जन्म में हमारे बीच में उत्तम नेत्र आदि सब इन्द्रियों का स्थापन कीजिये तथा प्राण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, बल, पराक्रम आदि युक्त शरीर पुनर्जन्म में कीजिये।"[2] इस मन्त्र में स्पष्ट ही पुनर्जन्मवाद का उल्लेख है। चारों वेदों में ऐसे मन्त्र एक नहीं अनेक हैं। यजुर्वेद कहता है 'पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन्।'[3] अर्थात् हे परमेश्वर, जब-जब हम जन्म लेवें, तब-तब हमको शुद्ध मन, पूर्ण आयु, आरोग्यता, प्राण कुशलतायुक्त जीवात्मा, उत्तम चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हों। इसी प्रकार अथर्ववेद में कहा है "पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च।"[4] अर्थात् हे प्रभो हमें आपकी कृपा से पुनर्जन्म में मन सहित ग्यारह इन्द्रियें प्राणों को धारण करने सामर्थ्ययुक्त आत्मा, धन एवं वेद का ज्ञान प्राप्त हो।

वेदों के उपरोक्त मन्त्रों से स्पष्ट ही जाता है कि पुनर्जन्मवाद का सिद्धान्त

---

1. "They had no special doctrine about life after death though some vague conceptions about heaven and hell could not be avoided by reflective minds. Rebirth is still at a distance." I. P. vol. I. p. 113–114, Dr. S. Radhakrishnan, India Ed. 1940 Reprinted 1951.

२. 'असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।'
(ऋ० म० ८ अ० १ व० २३ मं० १)
(इस मन्त्र पर दयानन्द का भाष्य। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० २१८, २१९ सं० १९८५ अजमेर संस्करण)

३. देखिये यजु० ४–१५।

४. अथर्व वेद, कां० ७ सूक्त ६७ मं० १।

वेदों से ही चला आ रहा है तथा पश्चिमी वेदज्ञों एवं उनका अनुकरण करने वाले आधुनिक भारतीय वेदज्ञों के इस मत में कोई सार नहीं है कि वेद में पुनर्जन्म का विचार नहीं है और पुनर्जन्मवाद बाद में उपनिषदों व दर्शन ग्रंथों में विकसित हुआ है। हमारे विचार से उपनिषदों में जो पुनर्जन्मवाद आता है उसका मूल स्रोत वेद ही है और यहां दयानन्द अन्य किसी भी वेदज्ञ से अधिक तर्कसंगत एवं वेद के वास्तविक दर्शन के अनुरूप हैं।

कर्म व कर्मफल—पुनर्जन्म के साथ-साथ वेदों में कर्म व कर्मफल का सिद्धान्त भी पाया जाता है। तथ्य तो यह है कि पुनर्जन्मवाद व कर्म का सिद्धांत आपस में गुथे हुये हैं। जीव जैसे-जैसे कर्म इस जीवन में करता है उन्हीं के अनुसार उसे अगला जन्म प्राप्त होता है। शुभ कर्मों से शुभ जन्म तथा अशुभ कर्मों के आधार पर निम्न कोटि का जन्म प्राप्त होता है।

कुछ विद्वान् वैदिक कर्म के नियम को एक अद्भुत रूप में लेते हैं। वे वेदों में प्राप्त कर्म व कर्मफल को केवल यज्ञों तथा उनसे प्राप्त स्वर्ग व नरक तक ही सीमित रखते हैं। ये वेद में प्रतिपादित कर्मवाद की कर्मकाण्डात्मक व्याख्या करते हैं क्योंकि कर्मों के फलों के भोग के लिये इनके पास पुनर्जन्म का कोई सिद्धान्त ही नहीं है।

दूसरी ओर दयानन्द वैदिक कर्मवाद को पूर्ण वैज्ञानिक रूप में वैसे ही बताते हैं जैसा कि अन्य उपनिषदादि आर्ष ग्रंथों में।

> आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि।
> धास्युर्योनिं प्रथम आविवेश यो वाचमनुदितां चिकेत।
> (अथर्व० कां० ५ सूक्त १ मं० २)

उपरोक्त मन्त्र के भाष्य में महर्षि दयानन्द लिखते हैं "जो मनुष्य पूर्वजन्म में धर्माचरण करता है, उस धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता है और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को प्राप्त होता है। जो पूर्वजन्म में किये हुये पाप-पुण्य के फलों को भोग करने के स्वभावयुक्त जीवात्मा है, वह पूर्व शरीर को छोड़ के वायु के साथ रहता है। जल, ओषधि वा प्राण आदि में प्रवेश करके वीर्य में प्रवेश करता है तदनन्तर योनि अर्थात् गर्भाशय में स्थिर होके पुनः जन्म लेता है।"[१]

१. दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग २, पृ० ५१६।

दो मार्ग पितृयान व देवयान—जीव के आचरण के लिये दयानन्द वेदों में दो मार्गों को बताते हैं, पितृयान व देवयान। उनके अनुसार पितृयान वह मार्ग है जिस पर चलकर जीव माता-पिता के संसर्ग से देह धारण कर अपने पूर्व किये पाप और पुण्य कर्मों का फल भोगता तथा पुनः-पुनः शरीर धारण करता रहता है तथा देवयान वह मार्ग है जिस पर चलकर जीव कर्म बन्धन से मुक्त होकर फिर जन्म धारण नहीं करता अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[1] यहां हम पाते हैं कि वेदों में पाप और पुण्य कर्मों का फल इस या आगे के जन्मों में भोगा जाना माना है तथा साथ ही एक ऐसे मार्ग का भी उल्लेख है जिस पर चलकर फिर जन्म-मरण का बन्धन समाप्त हो जाता है जो पाप-पुण्य से सर्वथा पृथक है। इसको यजुर्वेद एक अन्य स्थल पर और भी स्पष्ट करता है कि "कर्म करते हुए सौ वर्षों तक जीने की कामना करो परन्तु कर्म इस प्रकार करो कि वे तुम्हारे लिये बन्धनकारी न हों।"[2] अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिये वेद निष्काम कर्म करने का आदेश करते हैं। इस प्रकार गीता में प्रतिपादित निष्काम कर्म का मूल स्रोत भी हमें वेदों ही में मिल जाता है।

मोक्ष

वेदों में स्थान-स्थान पर यज्ञ करने और यज्ञ द्वारा धन, मान व प्रजा आदि सभी ऐश्वर्यों की प्राप्ति करने का आदेश मिलता है। इससे कतिपय आधुनिक वेदज्ञों को यह भ्रांति हो गई कि वेद के मानव का लक्ष्य धरती पर सरलपूर्ण

---

१. देखिये यजु० १९-१ पर दयानन्द भाष्य।

'अस्मिन् संसारे ··· द्वौ मार्गौ स्तः एक पितृणां ज्ञानिनां, देवानां विदुषां च द्वितीयः ··· तयोरेकः पितृयानो, द्वितीयो देवयानश्चेति। अर्थात् पूर्वापर जन्मानि च धारयति सा पितृयानाख्या ·· तथा यत्र मोक्षाख्यं पदं लब्ध्वा जन्ममरणाख्यात् संसाराद्विमुच्यते सा द्वितीया।'

(वही पृ० ५१६–५१७)

२. 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छ त ं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥' यजु० ४०-२॥

जीवन की प्राप्ति तथा स्वर्ग में देवताओं के सान्निध्य में सुखोपभोग-मात्र है ।[१] उनके विचार से वैदिक मानव यज्ञों को स्वर्ग की प्राप्ति के लिये किया करते थे, जिससे वे स्वर्ग में पितरों के पास चले जायें तथा स्वर्ग में प्राप्त सभी भौतिक ऐश्वर्यों का व्याधिरहित बलिष्ठ व सुन्दर शरीर से भोग करें। इनके विचार में वेदों में कर्मों के दो रूप पाप व पुण्य हैं एवं फलस्वरूप कर्मों की दो ही गतियें, नरक व स्वर्ग हैं। और मुक्ति की धारणा, जिसमें जीवात्मा जीवन-मरण के चक्र से छूट कर अमरत्व को प्राप्त होता है तथा सुख-दुःख, पाप-पुण्य व भोग-त्याग सबसे छूट जाता है, वेदों के ही नहीं वरन् ब्राह्मणों के भी पश्चात् उपनिषदों में विकसित हुई है।

यहाँ पर भी महर्षि दयानन्द वेद के सम्बन्ध में हमारे सामने एक नवीन विचार रखते हैं, जो आधुनिक युग में सर्वथा मौलिक है तथा वेद-विद्या में वेद के धर्म व वेद के दर्शन में क्रान्ति पैदा करने वाला है। दयानन्द का कहना है कि वेद यज्ञ व उत्तम कर्मों द्वारा सर्व प्रकार के सुख ऐश्वर्यों का आदेश करता है, यह बिल्कुल ठीक है क्योंकि उन्नत जीवन व सभ्य समाज के लिये यह सब आवश्यक भी है लेकिन अभ्युदय की गति को वेद में अन्तिम नहीं कहा गया है। वरन् इन सबसे ऊपर उठ कर वेद उस अमृत-पद का निर्देश भी करता है जिसकी प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ से अर्जित किये गये समस्त ऐश्वर्यों का सर्वथा त्याग-पूर्वक भोग करना चाहिये और हम दयानन्द के इस मत की पुष्टि में वेदों में स्थल-स्थल पर अनेक ऐसे मन्त्र पाते हैं जिनमें परम निःश्रेयस के रूप में ब्रह्म की प्राप्ति का निर्देश किया गया है। जीवन की राह के सच्चे पथिक की वाणी में वेद कहता है "द्विजों की पवित्र वेदमाता की मैं स्तुति करता हूँ, यह मुझे आयु, प्राण (स्वास्थ्य), सन्तान, पशु, कीर्ति, धन तथा ब्रह्मज्ञान को देवे, जिससे मैं ब्रह्म लोक को प्राप्त होऊं।"[२]

---

१. देखिए—"वैदिक धर्म एवं दर्शन" भा० २ पृ० ७२२ ले० ए० बी० कीथ, अनुवादक सूर्यकान्त।

२. 'स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्म वर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्।' अथर्व० १९।७१।१

यह हम कह चुके हैं कि दयानन्द वेदों को मुख्यतया ब्रह्म-विद्या के ग्रन्थ मानते हैं, इससे उनके मत में ब्रह्म की प्राप्ति कराना चारों वेदों का मुख्य तात्पर्य है और यह युक्तिसंगत भी प्रतीत होता है क्योंकि मनुष्यों का सर्व प्रमुख कर्त्तव्य परम लक्ष्य की प्राप्ति है, जिसके लिये संसार में मनुष्य का अवतरण हुआ है और वेद, जोकि आदि ज्ञान के रूप में मनुष्यों को दिये गये, यदि मानव लक्ष्य को प्राप्त कराने की कला का व्याख्यान नहीं करते, तब इनका ईश्वरीय ज्ञान के रूप में स्वीकार करना एक भ्रम होगा। वेद के विषय में यह विचारधारा उपनिषद्-काल तक चलती रही। उपनिषद्-काल के लोप से साथ-साथ वेद के सम्बन्ध में इस मान्यता का लोप भी हो गया था कि वेद मुख्य रूप से ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग का प्रतिपादन करते हैं। दयानन्द ने सदियों से चली आ रही इस भूल को फिर से सुधारा और कहा कि वेद के अनुसार मानव के लिये ब्रह्म की प्राप्ति से बढ़कर और कोई प्राप्ति नहीं है तथा चारों वेद विशेष रूप से उसी की प्राप्ति कराने का प्रतिपादन कर रहे हैं।[1] और हमारा मत यह है कि वेदों में ब्रह्म-प्राप्ति के लिये आवश्यक ज्ञान-विज्ञान व गूढ़तम मानसिक विद्याओं का वर्णन अतिशय से भरा पड़ा है; बस आवश्यकता है उसे समझने की। बीसवीं शताब्दी के ऋषि महायोगी अरविन्द इस विषय में महर्षि दयानन्द से पूर्णरूप से सहमत हैं। वे लिखते हैं कि वेद के अध्ययन करने पर "हम यह पायेंगे कि सारा का सारा ऋग्वेद क्रियात्मक रूप से इस द्विविध विषय पर ही सतत् रूप से चक्कर काट रहा है— मनुष्य की अपने मन और शरीर में तैयारी और सत्य तथा निःश्रेयस की प्राप्ति और विकास के द्वारा अपने अन्दर देवत्व और अमरत्व की परिपूर्णता।"[2]

मुक्ति के साधन ज्ञान व कर्म—वेदों में ज्ञान को मुक्ति का मुख्य साधन बताया है। तथा उपनिषदों का यह सिद्धान्त, कि "विद्या द्वारा समस्त बन्धनकारी ग्रन्थियों को काट दिया जाता है" वेदों में यथावत् प्राप्त होता है। महर्षि दयानन्द एक वेद मंत्र के भाष्य में वेद के द्वारा प्रतिपादित ज्ञान मार्ग का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं कि 'जो मनुष्य विद्या व अविद्या के स्वरूप को साथ ही साथ

१. महर्षि दयानन्द कृत दयानन्द ग्रन्थ माला भा० २ पृ० ३१३।
२. श्री अरविन्द का 'वेद रहस्य' भा० १ पृ० १०२।

जानता है, वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तर के विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।"[1] हम देखते हैं कि उपरोक्त मन्त्र में दयानन्द वेद में ज्ञान-मार्ग को ही नहीं वरन् कर्म-मार्ग को भी साथ ही मानते हैं। वास्तव में बिना कर्म के ज्ञान की प्रतिष्ठा अधूरी है। ज्ञान और कर्म द्वारा प्राणी परमात्मा की उपासना से समस्त बन्धनों व हृदय की ग्रन्थियों को नष्ट कर मोक्ष को प्राप्त करता है। यजुर्वेद अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से मुमुक्षुओं को मुक्ति का मार्ग बताता हुआ द्रष्टा ऋषि की भाषा में कहता है, 'जो सबसे बड़ा, सबका प्रकाश करने वाला और अविद्या अन्धकार अर्थात् अज्ञानादि दोषों से अलग है उसी पुरुष को मैं परमेश्वर और इष्टदेव मानता हूं। उसको जाने बिना कोई मनुष्य यथावत् ज्ञानवान् नहीं हो सकता, क्योंकि उसी परमात्मा को जान के और प्राप्त होके जन्म-मरणादि क्लेशों के समुद्र समान दुःख से छूट के परमानन्द-स्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है। अन्यथा किसी प्रकार से मोक्ष सुख नहीं हो सकता।'[2]

इस विवेचना से हम यह भी देखते हैं कि वेदों में मुक्ति का जिस रूप से वर्णन किया गया है उसमें और उपनिषदों में वर्णित मुक्ति में कोई अन्तर नहीं है। वेद ब्रह्म-पद को ही परमपद मानते हैं। वेद कहता है "यही विष्णु का परमपद है जिसे मुक्त ज्ञानी पुरुष सदैव देखते हैं।"[3] जो विद्वान् वेदों में केवल स्वर्ग व नरक की कल्पना का प्रतिपादन करते हैं वे इससे भली-भाँति समझ सकते हैं कि उनकी ये कल्पनायें कितनी भ्रान्त हैं, और हम पाते हैं कि दयानन्द वेद के अपने गम्भीर व गहन अध्ययन के आधार पर वेदों में मानव-जीवन के परम लक्ष्य के रूप में, मुक्ति का सफलतापूर्वक प्रतिपादन करते हैं।

---

१. सत्यार्थ प्रकाश पृ० २३६।

२. 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥' यजु० ३१।१८ इस पर दयानन्द का भाष्य (द० ग्र० मा० भाग २ पृ० ४२१)।

३. 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।' ऋ० अष्टक १। अध्याय २। वर्ग ७। मं० ५।

मुक्ति से पुनरावृत्ति

इसके अतिरिक्त महर्षि दयानन्द मुक्ति के विषय में एक नया विचार हमारे सम्मुख रखते हैं, वह है मुक्ति से पुनरावृत्ति। दयानन्द का कथन है कि वेदों के अनुसार जीव की मुक्ति अनन्त काल के लिये नहीं होती वरन् मुक्ति की अवधि समाप्त कर जीवात्मा फिर जन्म-मरण के चक्र में आ जाता है। इसमें दयानन्द युक्ति देते हैं कि जिस कार्य का आरम्भ होता है उसका अन्त भी निश्चित है। मुक्ति का प्रारम्भ है अतः इस अवस्था का अन्त भी होना चाहिये। इस सम्बन्ध में दयानन्द ऋग्वेद के दो मन्त्र हमारे सामने रखते हैं। वेद प्रश्न करता है कि हम किसका नाम पवित्र जानें? कौन नाशरहित, पदार्थों के मध्य में वर्तमान देव सदा प्रकाशस्वरूप है, जो हमको मुक्ति का सुख भुगाकर पुनः इस संसार में जन्म देता और माता-पिता के दर्शन कराता है।'[1] अगले ही मन्त्र में वेद उत्तर देता है कि 'हम इस स्वप्रकाशस्वरूप अनादि सदा मुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जानें, जो हमें मुक्ति में आनन्द भुगाकर पृथिवि में पुनः माता-पिता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता-पिता का दर्शन कराता है।'[2]

मुक्ति को प्राप्त कर जीव एक अवधि—चाहे वह कितनी ही लम्बी क्यों न हो—के बाद पुनः संसार में लौट आता है, दयानन्द का यह मत दार्शनिक जगत् में एकदम नया है। महर्षि के विचार से उपनिषद् व दर्शन ग्रन्थों में भी मुक्ति से पुनरावृत्ति का प्रतिपादन है। इस प्रश्न पर हम यहां पर विचार नहीं करेंगे, वरन् आगे मुक्ति विषय में इसको उठायेंगे।

---

१. "कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च।" १।

२. "अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥" ऋ० मं १। सूक्त २४। मं० १-२।
इन दोनों मन्त्रों पर हमने दयानन्द का भाष्य उद्धृत किया है। देखिये सत्यार्थप्रकाश पृ० २४४-२४५।

२

दयानन्द और उपनिषद्

वेद-ब्राह्मण और उपनिषद्

वेद की आलंकारिक व प्रतीकात्मक भाषा अपने आप में एक पहेली है। तथा इसमें पाये जाने वाले अलंकार अनेक रहस्यपूर्ण निर्देशों से भरपूर हैं जो वेद के जिज्ञासु को अनेक प्रलोभनों में डाल देते हैं। इससे वह वेद को खोलने वाले वास्तविक पथ से भटक जाता है। जो विद्वान् वेद की इस अलंकारपूर्ण, निर्देशात्मक भाषा के प्रलोभन से पार हो जाता है वेद उसके लिये अपनी अमूल्य ज्ञान-निधि को खोल देता है।

वेद की भाषा को समझने के लिये केवल संस्कृत के ज्ञान से काम नहीं चलता। साधारण मस्तिष्क की तो वहाँ पहुँच ही नहीं हो सकती। वेद के सनातन ज्ञान को प्राप्त करने के लिये दो बातों की नितान्त आवश्यकता है; (१) संस्कृत भाषा के वैदिक रूप के ज्ञान की, तथा (२) समाधि की अवस्था की प्राप्ति की। भाषा व प्रतीकों की कठोर दीवार के पीछे छिपे वैदिक सत्यों को खोलने के लिये, बाद के ऋषियों ने इसी प्रणाली का प्रयोग किया। इस महान् प्रयास के दो मुख्य रूप हमारे सामने आये—प्रथम ब्राह्मण ग्रन्थ तथा दूसरे उपनिषद् ग्रंथ। यह दोनों ही ग्रंथ वेद के दो मुख्य विषय कर्म व ज्ञान का प्रतिपादन करते हैं।

ब्राह्मण ग्रंथ—ब्राह्मण ग्रन्थों में वैदिक कर्मकाण्ड की आध्यात्मिक व लौकिक दोनों ही प्रकार से व्याख्या एवं व्यवस्था की है। ब्राह्मण, वेद (संहिता भाग) के व्याख्यान मात्र हैं। महर्षि दयानन्द इन्हें वेदों में स्वीकार नहीं करते।

क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थ ऋषियों के द्वारा निर्मित हैं तथा वेद ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान है।[1] ब्राह्मणों में वैदिक मन्त्रों की प्रतीकें धर-धर कर उनकी व्याख्या की गई है जैसे शतपथ ब्राह्मण में 'ईषेत्वोर्जेत्वा' की 'ईषेत्वोर्जेत्वेति' यह प्रतीक धर कर व्याख्या की गई है, ऐतरेय ब्राह्मण में ऋग्वेद के मन्त्र की 'अभित्वादेव सवितरिति' यह प्रतीक देकर व्याख्या की गई है। परन्तु ब्राह्मण ग्रंथों में ऋषियों ने वैदिक प्रतीकों को एक नये प्रतीकवाद से बताने की चेष्टा की है। यद्यपि यह वेद के अर्थों को खोलने का प्रयास है तथापि बाद के विद्वानों के लिये यह वेदों के रहस्यवाद से भी अधिक कठिन सिद्ध हुआ। इससे पश्चातवर्ती विद्वानों ने ब्राह्मण ग्रंथों की यज्ञों की आध्यात्मिक व्याख्या को तो दृष्टि से ओझल कर दिया और नये प्रतीकवाद से ढके लौकिक अर्थों को ले लिया। इससे ये ग्रन्थ केवल यज्ञ-याग सम्बन्धी ग्रन्थ समझे जाने लगे, जबकि हम देखते हैं कि इनमें दार्शनिक तत्त्व भी हैं।

उपनिषद् ग्रन्थ—उपनिषदों में ऋषियों ने ज्ञानकाण्ड को पकड़ा। उन्होंने वेदों में प्राप्त होने वाले आध्यात्मिक सूत्रों के रहस्यों का समाधि तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों द्वारा साक्षात्कार किया। उन्होंने वेद के प्रतीकों की आध्यात्मिक व्याख्या की। उपनिषद् के ऋषियों ने भाषा की अधिक परवाह नहीं की, अतः इनकी भाषा वेद व ब्राह्मणों से अधिक सरल है। इन्होंने भाषा के सामने ज्ञान पर अधिक बल दिया तथा वेद के परम तात्पर्य ब्रह्म को अपना सीधा लक्ष्य बनाया। उपनिषदों में ब्रह्म का व्याख्यान पाया जाता है।

ब्राह्मण और उपनिषद् वेद की संहिताओं के बाद में ऋषियों द्वारा बनाये गये ग्रंथ हैं। ये वेद के भाग नहीं हैं, जैसा कि कुछ विद्वान् मानते हैं। महर्षि दयानन्द उपनिषदों को भी वेद का भाग नहीं मानते।[2] परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि दयानन्द इन्हें प्रमाण न मानते हों। हां दयानन्द ब्राह्मणों

१. देखिये ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० ९९। वेद संज्ञा विचार विषय।

२. 'मैं वेदों में एक ईशावास्य को छोड़कर अन्य उपनिषदों को (वेदों में) नहीं मानता किन्तु अन्य सब उपनिषद ब्राह्मण ग्रन्थों में हैं, वे ईश्वरोक्त नहीं।'
(दयानन्द ग्रन्थमाला भाग २ पृ० ८५७)

व उपनिषदों को ऋषियों के वचन होने से परतः प्रमाण मानते हैं,[1] वेद के समान स्वतः प्रमाण नहीं।

क्या उपनिषदों में वेद के विरुद्ध क्रान्ति की गई है?—कुछ विद्वानों का विचार है कि उपनिषदों में वेदों के विरुद्ध क्रान्ति की गई है। वेद कर्मकाण्ड प्रधान ग्रन्थ हैं तथा उपनिषदें ज्ञान-प्रधान हैं। इनके मत में वेद की कर्मकाण्ड व यज्ञात्मक प्रणाली को उपनिषदों में न केवल उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया वरन् उसे व्यर्थ और शरारतभरी भी बताया है।[2] इसके अतिरिक्त उनका यह भी कहना है कि उपनिषदें वेदों को अपरा-विद्या के ग्रंथ बताती हैं तथा परा अर्थात् ब्रह्म विद्या का उनमें अभाव मानती हैं।[3]

स्वामी दयानन्द इन विचारों से बिल्कुल सहमत नहीं हैं। वेद, ब्राह्मण व उपनिषदों के मध्य विद्वत्-कल्पित द्वन्द के विषय में **महर्षि दयानन्द का अन्य विद्वानों से मुख्य मतभेद यह है कि दयानन्द न तो वेदों को केवल कर्मकाण्ड व यज्ञ की पुस्तक मानते हैं और न उनमें कल्पित केवल यज्ञों द्वारा मक्ति के सिद्धान्त को ही।** यह हम पहिले ही कह आये हैं कि वेदों में कर्म और ज्ञान दोनों विषय उपलब्ध होते हैं तथा बाद में ब्राह्मण ग्रंथों व उपनिषदों ने इनमें से एक-एक को अपना मुख्य विषय बना लिया। ब्राह्मणों ने कर्म विषय का विस्तार किया और उपनिषदों ने ज्ञान का। सायण सरीखे भारतीय तथा

---

१. "वेद स्वतः प्रमाण हैं और ब्राह्मण परतः प्रमाण।" वही पृ० ८५८।

२. In these Upanishads the whole ritual and sacrificial system of the Veda is not only ignored, but directly rejected as useless, nay, as mischievous."

(The Vedanta Phil. by Max-Muller P. 16 Cal. 1955)

३. 'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्व वेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परायया तदक्षरमधिगम्यते।'

मु० उ० १–१–५।

(मुण्डकोपनिषद के इस मन्त्र से विद्वान यह मानते हैं कि उपनिषदें वेदों को अध्यात्म विद्या के ग्रन्थ नहीं मानतीं।)

सायण का अनुकरण करने वाले पश्चिमी विद्वानों ने वेद और उपनिषदों का जो आपस में विरोध प्रदर्शित किया है वह उनके वेद के विषय को सही-सही रूप में न समझने के कारण है तथा साथ ही वे औपनिषदिक ऋषियों की वेद के सम्बन्ध में श्रद्धा व आदर से पूरित भावना को भी नहीं समझ पाये।

परन्तु इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब वेदों में कर्म के साथ-साथ ज्ञान विषय भी है और वेद ज्ञान को कर्मकाण्ड से श्रेष्ठ भी मानते हैं (जैसा कि दयानन्द कहते हैं), तब उपनिषदों में यह कहकर कि 'यज्ञों की नाव भारी है'[1] वेदों की निन्दा क्यों की गई है? तथा वेदों को अपरा विद्या के ग्रंथ क्यों गिनाया गया है? इन दोनों प्रश्नों के समाधानार्थ हमारे विचार में उपनिषदों के उन मन्त्रों पर विचार करना अधिक ठीक होगा, जिनके आधार पर यह मिथ्या धारणायें बनी हैं। मुण्डकोपनिषद् १–२–७ में कहा गया है कि 'निश्चयपूर्वक इस प्रकार की यज्ञ रूप नौकायें (जो पार उतरने का साधन कही गई हैं) जिनमें बैठे सोलह ऋत्विक, यजमान व यजमान पत्नि सहित अठारह यज्ञ करने वाले अविवेकी पुरुष इनको श्रेय मानकर प्रसन्न होते हैं वे निश्चयपूर्वक जरा और मृत्यु को पुनः पुनः प्राप्त होते हैं।'[2] इस मन्त्र में केवल यज्ञों से मुक्ति प्राप्त करने वाले अविवेकी जनों के मत का खण्डन है। जिसका वर्णन इस उपनिषद् के वक्ता ऋषि ने पिछले तीन मन्त्रों (१-२-४, १-२-५ व १-२-६) में किया है। इस मंत्र में ऋषि ने उस मत की तुच्छता दिखाई है कि केवल यज्ञ करने से मुक्ति की प्राप्ति सम्भव नहीं है। वास्तव में उपनिषद् यज्ञ-कर्मों के विरुद्ध नहीं है वरन् अग्निहोत्र मात्र से मुक्ति प्राप्ति की आशा के विरुद्ध है। इसका स्पष्ट प्रमाण हमें मुण्डकोपनिषद् के (१-२-१, १-२-२ व १-२-३) मन्त्रों में मिल जाता है जिनमें ऋषि ने पुण्य कर्मों के साधनभूत अग्निहोत्रादि कर्मों का उल्लेख किया है।

अब यदि ऋषि को अग्निहोत्र सर्वथा त्याज्य होता तो वह यहां क्यों इसका

---

१. 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञ रूपा।' मु० १–२–७।

२. प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति।
मु० १–२–७।

वर्णन करता। इसके अतिरिक्त अन्य उपनिषदों में भी अग्निहोत्रादि यज्ञीय कर्मों की उपयोगिता को स्वीकार किया गया है। कठोपनिषद् में नचिकेता ने यम से द्वितीय वर के रूप में वैदिक अग्निहोत्र को मांगा था तथा यम ने नचिकेता के लिये उसका व्याख्यान किया। यदि वैदिक यज्ञ उपनिषदों को बिल्कुल ही मान्य न होते तब यम ने उसको हेय क्यों नहीं बताया। वास्तविकता क्या है, जब हम इस पर विचार करते हैं तब ईषोपनिषद् का मन्त्र हमारी सारी समस्या का समाधान कर देता है। मंत्र कहता है कि 'कर्म करते हुये सौ वर्ष तक जियो परन्तु कर्म इस प्रकार करो कि वह तुम्हें लिप्त करने वाले न हों।'[1] इस मंत्र में सौ वर्ष तक जीवित रहकर निष्काम भाव से कर्म करने का आदेश है। सकाम भावना से किया गया कर्म सदैव बन्धनकारी होता है फिर चाहे वह वैदिक कर्मकाण्ड ही क्यों न हो। ब्रह्म की प्राप्ति के साधन के रूप में यज्ञों का खण्डन करने से उपनिषदों का तात्पर्य सकाम भावना से प्रेरित होकर किये गये यज्ञों से है। स्वामी दयानन्द उपनिषदों में यज्ञों के इसी निष्काम रूप को मानते हैं। उपनिषद् के एक मन्त्र का अर्थ करते हुये वे कहते हैं कि "जो बहुधा अविद्या में रमण करने वाले बाल-बुद्धि हम कृतार्थ हैं ऐसा मानते हैं जिसको केवल कर्मकाण्डी लोग राग से मोहित होकर नहीं जान और जना सकते, वे आतुर होकर जन्म-मरण रूप दुख में घिरे रहते हैं।"[2] अब, यज्ञों के द्वारा मुक्ति-प्राप्ति के विषय में, वेद क्या कहते हैं, इस पर भी विचार कर लिया जाय। जहां तक सकाम भावना से किये गये कर्म और स्वर्ग की भावना से किये गये यज्ञों का प्रश्न है, वेद इस सम्बन्ध में उपनिषदों से सहमत है। वेद कहता है "जो उस ब्रह्म को नहीं जानता वेद की ऋचा उसका क्या लाभ करेगी?"[3] इस स्थल पर वेद स्पष्ट रूप से कह रहा है कि केवल वेद पढ़ लेने मात्र से मुक्ति नहीं मिल सकती। वेद के अनुसार मुक्ति का एक ही मार्ग है और वह है ब्रह्म

१. "कुर्वन्नेहवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे" ॥ ईषोपनिषद २।

२. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १२४।

३. "यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति।" (ऋ० मं० १, सूक्त १६४, मन्त्र ३९)

की प्राप्ति। ऋग्वेद स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर रहा है कि "ब्रह्म के जानने से ही मृत्यु से छुटकारा प्राप्त हो सकता है, इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग मृत्यु से छूटने का नहीं है।"[1] अर्थात् वेद निर्देश करता है कि मृत्यु से तभी छूटा जा सकता है जब कि सत्य ज्ञान को प्राप्त कर लिया जाये, इससे पूर्व नहीं, फिर चाहे कितने भी यज्ञ क्यों न किये जायें। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यज्ञों की मान्यता के विषय में वेद और उपनिषदों में कोई मतभेद नहीं है।

इसके उपरांत अब हम इस दूसरे प्रश्न को, [कि क्या उपनिषदें वेदों को अपरा विद्या के ग्रन्थ मानती हैं, समीक्षा करेंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुण्डकोपनिषद् १-१-५ 'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः' दिखायी पड़ने में, चारों वेदों को अपरा विद्या के ग्रन्थ बता रहा है। परन्तु किसी ग्रन्थ के किसी विषय में वास्तविक अभिप्राय का उसके किसी एकाध वाक्य को देखने मात्र से पता नहीं चल सकता। इसके लिये हमें उस ग्रन्थ की मूल भावना को अपने विचार का केन्द्र बनाना चाहिये। इसी उपनिषद् के एक अन्य मन्त्र में चारों वेदों को ब्रह्म की वाणी बताया है[2] तथा एक अन्य मन्त्र में वेदों को इसी ब्रह्म से उत्पन्न हुआ कहा है।[3] अब जबकि मुण्डकोपनिषद् का ऋषि वेदों की साक्षात् ब्रह्म से उद्भूत मानता हो तब यह समझ में नहीं आता कि वह इन्हीं वेदों को अपरा विद्या के ग्रन्थ कैसे कह सकता है। तथ्य यह है कि वेदों में परा और अपरा दोनों ही विद्यायें विद्यमान हैं। परन्तु संसार में साधारण जन प्रेय अर्थात् अपरा विद्या से अधिक सम्बन्ध रखते हैं और फिर वेदों की भाषा भी कुछ ऐसी है, जो ऊपर से दीखने पर साधारण मस्तिष्क को प्रेयात्मक लगती है इसी से साधारण जन उन्हें अपरा विद्या से पूरित मानते हैं। यहां पर वेदों को अपरा विद्या कहने से ऋषि का केवल इतना ही तात्पर्य है कि साधारण जन

१. "तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।"
य. ३१–१८।

२. मु० २–१–४

३. "तस्माच्चः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च। संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः।" मु० २–१–६॥

वेदों में अपरा विद्या को ही देखते हैं और जो परा विद्या है वह भी वेदों में ही पायी जाती है, वह वो है जिससे अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

इसके विपरीत विपक्षियों—पश्चिमी विद्वानों—का तर्क यह है कि उपनिषद् के उक्त मन्त्र की इस प्रकार की व्याख्या करना स्पष्ट ही अर्थों की खींचातानी है तथा वास्तव में वेदों में ब्रह्म-विद्या नहीं है और उपनिषदों के अनुसार वेद अपरा विद्या के ही ग्रन्थ हैं। इस आपत्ति के विरुद्ध दयानन्द हमारे सम्मुख एक और तर्क रखते हैं। उनका कहना है कि 'जो ब्रह्म-विद्या वेदों में न होती तो उपनिषद् के ऋषियों को इसका ज्ञान नहीं हो सकता था।'[1] दयानन्द का यह तर्क ठीक भी है क्योंकि ब्रह्म-विद्या अत्यन्त सूक्ष्म विद्या है और जिस रूप में यह उपनिषदों में पायी जाती है वह तो अत्यन्त परिष्कृत रूप में है। अतः यह मानना कि उपनिषद् के रचयिता ऋषियों ने इसे बिना किसी पूर्ववर्ती ज्ञान के स्वतन्त्र रूप से रच लिया, नितान्त असंगत है। यदि हम विकास वाद को लें, तो जिस प्रकार बिना बीज के अंकुर नहीं होता उसी प्रकार बिना बीजरूप ब्रह्मज्ञान के उपनिषदों का विस्तृत, स्पष्ट एवं परिष्कृत ब्रह्मज्ञान कैसे हो सकता था। इस विषय में श्री अरविन्द का कथन पूर्णरूप से दयानन्द के मत का समर्थन कर रहा है। वह कहते हैं 'ऐसे गम्भीर और चरम सीमा तक पहुँचे विचार, ऐसे सूक्ष्म और महाप्रयत्न द्वारा निर्मित अध्यात्म विद्या की पद्धति जैसा कि सारतः उपनिषदों में पायी जाती है किसी पूर्ववर्ती शून्य से नहीं निकल आयी।'[2] इसके लिये पूर्व विद्यमान आधार की आवश्यकता है, जिससे औपनिषदिक ऋषियों को प्रेरणा व विचार-सामग्री मिली है और इस आधार के रूप में हमारे पास वेद के ग्रन्थ हैं।

वेदों में ब्रह्म-विद्या अर्थात् परा-विद्या है या नहीं, इस विषय को अब हम दूसरे उपनिषदों में भी देखेंगे। कठोपनिषद् कहता है, "सारे वेद जिसे गाते हैं, योगी लोग जिसके लिये तप करते हैं, जिसकी प्राप्ति की कामना से मुमुक्षु ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं वह पद संक्षेप में कहता हूँ कि वह ब्रह्म है।"[3]

---

१. दयानन्द ग्रंथमाला, भाग२ पृ० ८६५।

२. वेद रहस्य, ले० श्री० अरविन्द, भा० १ पृ० ४।

३. "सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्'॥ कठ० १-२-१५।

इस स्थल पर कठोपनिषद् बहुत ही स्पष्ट रूप से कह रहा है कि सारे वेद ब्रह्म का ही व्याख्यान कर रहे हैं। अतः हमारी समझ में नहीं आता कि वेदों को विशुद्ध अपरा-विद्या के ग्रन्थ कैसे कहा जा सकता है और यहाँ हमें महर्षि दयानन्द का ही मत अधिक युक्तियुक्त लगता है कि वेदों में परा और अपरा दोनों ही विद्यायें हैं परन्तु इनमें परा विद्या (ईश्वर) का व्याख्यान करना वेदों का मुख्य लक्ष्य है।[1]

दयानन्द की उपनिषदों के सम्बन्ध में इस विचार-सरणि से बाध्य होकर हम को यह मानना ही पड़ता है कि वेदों में जिस परम सत्ता का वर्णन 'सृष्टि का अध्यक्ष', 'देवों का देव' व अनेक स्थलों पर 'ब्रह्मादि' नामों से किया जाता है, वही परम तत्त्व उपनिषदों का ब्रह्म है। इसी को उपनिषदें 'सबका आत्मा', 'नित्यों का नित्य' इत्यादि नामों से पुकारती हैं। डा० पो० के० आचार्य सरीखे विद्वानों के लेखों में भी दयानन्द के इसी मत का प्रभाव प्रतीत होता है, जब वह कहते हैं कि 'पीछे के दार्शनिकों को उपनिषदों के सिद्धान्तों में वेदों का अन्त नहीं वरन् चरम तात्पर्य दिखाई पड़ा'।[2]

---

१. "अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति। विज्ञान कर्मोपासना ज्ञानकाण्ड भेदात्। .....अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्तीश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात्।" (दयानन्द ग्रंथमाला, भा० २ पृ० ३०२)

२. (i) 'उपनिषदों में औदार्य" लेख। लेखक महामहोपाध्याय डा० पी० के० आचार्य, एम. ए., पी. एच. डी., डी. लिट. (कल्याण का उपनिषदांक जनवरी १९४९ पृ० ८७)

(ii) 'The chief reason why the Upanishad's are called the end of the Vedas is that they represent the central aim and meaning of the teaching of the Vedas'.

(The Principal Upanishads. P. 24, London 1953) By Dr. S. Radhakrishnan.

(iii) "सन्ति खलु उपनिषदो वेदमूला इति सर्वेषामेव निर्विवादमभिमतम्।" (संस्कृत साहित्य विमर्श पृ० १४८, ले० द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री, १९५६)।

दयानन्द और उपनिषद्-दर्शन

वैदिक दर्शन के महान् आचार्य शंकर, रामानुज, मध्व आदि ने उपनिषदों को अपनी विचारधारा का आधार बनाया है। शंकर, मध्व आदि ने मुख्य-मुख्य उपनिषदों पर भाष्य भी लिखे हैं। जिन आचार्यों ने इन पर भाष्य नहीं लिखे उन्होंने भी अपने दर्शन का प्रेरणा-स्रोत इन्हीं ग्रन्थों को बनाया। वैदिक दर्शन के आचार्यों में यह एक परिपाटी सी दिखाई पड़ती है कि वे या तो उपनिषदों पर भाष्य लिखते हैं अथवा अपने विचारों के समर्थन में उपनिषदों को आधार बनाते हैं। यद्यपि इन आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्तों में भारी मतभेद हैं तथापि इनमें से हरएक अपने सिद्धांत को उपनिषदों का सही सिद्धान्त बताता है। शंकराचार्य के अनुसार उपनिषद् अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं तो रामानुज के विचार से इसमें विशिष्टाद्वैतवाद है, मध्व इन्हीं में द्वैतवाद का दर्शन करते हैं। इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में विचारों की इतनी विविधता का कोई न कोई कारण अवश्य है। विचार करने पर पता चलता है कि उपनिषदों में विभिन्न मतों का दर्शन कराने वाली श्रुतियां काफी मात्रा में मिलती हैं। कोई श्रुति स्पष्ट अद्वैतबाद का प्रतिपादन करती है तो कोई द्वैतवाद के पक्ष में है। कुछ श्रुतियें ऐसी भी हैं जो रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अनुकूल हैं। सम्भवतः इसी लिये मैक्समूलर महोदय ने उपनिषदों के विषय में यह धारणा बनायी कि इनमें नियमित व सुस्पष्ट रूप से कोई एक बिचारधारा नहीं मिलती।[1] इनके विचार से भिन्न-भिन्न उपनिषदों का निर्माण विभिन्न कालों में अलग-अलग ऋषियों ने किया है अतः इनमें विचारों की भिन्नता का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

उपरोक्त विचारधारा में ऊपर से देखने पर बल तो प्रतीत होता है परन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर हमें इसमें एक बड़ी भारी कमी का पता चलता है। स्वामी दयानन्द के अनुसार उपनिषदों में वर्णित आध्यात्मिक ज्ञान साधारण विचारक्रिया का फल नहीं है बल्कि इसकी प्राप्ति ऋषियों ने, अपने गम्भीर पांडित्य एवं मनोयोग द्वारा समाधि की गहन अवस्था में की थी। 'अयमा-

1. See Vedant Philosophy. Max Muller, p. 20 & 24.

त्मा ब्रह्म"[1] इस उपनिषद् वाक्य को जिसका अर्थ है कि यह जो मेरे में व्यापक है वही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है, समाधि-अवस्था से नीचे कोई, इतनी स्पष्टता, दृढ़ता व निर्भीकता से नहीं कह सकता जैसा कि उपनिषद् का द्रष्टा ऋषि अपने तदात्मा से साक्षात् के आधार पर कहता है।[2] उपनिषदें, सुने हुये या बुद्धि के स्तर पर प्राप्त किये हुये ज्ञान को सदैव ही सत्य नहीं मानतीं तथास्पष्ट रूप से कहती हैं कि "यह आत्मा न तो पठन-पाठन से प्राप्त होता है न बुद्धि द्वारा जाना जा सकता है और न ही बहुत सुनने से।"[3] सत्य ज्ञान की प्राप्ति का कौन सा सही मार्ग है इस विषय में उपनिषदें हमें श्रवण, मनन व निदिध्यासन का मार्ग बताती हैं। परम सत्य को जानने के लिये सर्वप्रथम उन आचार्यों से जिन्होंने सत्य का साक्षात् किया है, इसके विषय में श्रद्धापूर्वक सुनना चाहिये, इसके अनन्तर उस श्रवण किए हुये ज्ञान पर बुद्धिपूर्वक मनन करना चाहिये पश्चात् निदिध्यासन करना चाहिये। इस प्रक्रिया में प्रथम स्थिति इन्द्रियों द्वारा ज्ञान की प्राप्ति की है, दूसरी अवस्था में जो कि पहले से सूक्ष्म है जिज्ञासु बुद्धि से श्रुत ज्ञान पर मनन करता है। परन्तु, उपनिषदें ज्ञान की प्राप्ति एवं उसकी सत्यता की परीक्षा को यहीं समाप्त नहीं कर देतीं, वरन् ये बुद्धि से भी सूक्ष्म समाधि की अवस्था में, विषय के साक्षात्कार को अन्तिम मानती हैं। समाधि की अवस्था बुद्धि को पार कर आन्तरिक ज्ञान की वह अवस्था है जहाँ द्रष्टा का अपने विषय से साक्षात् सम्बन्ध हो जाता है। यह एक ऐसी आध्यात्मिक अनु-

---

१. माण्डूक्योपनिषद् मन्त्र–२।

२. (i) सत्यार्थप्रकाश, पृ० १६५।

(ii) "उन्होंने (उपनिषदों के ऋषियों ने) विलुप्त हुये या क्षीण हुये ज्ञान को ध्यानसमाधि तथा आध्यात्मिक अनुभूति के द्वारा पुनरुज्जीवित करने का यत्न किया।" श्री अरविन्द, वेद रहस्य, प्रथम भाग पृ० १७।

३. 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।' कठोपनिषद् २-२३।

भूति है जहां द्रष्टा के आत्मा के साथ परम सत्य का सीधा सम्बन्ध होता है। इस अवस्था में वाणी समाप्त हो जाती है और मन की शक्ति भी वहां ठप्प हो जाती है।[1]

उपरोक्त विवेचन से अब यह स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदों में वर्णित परम तत्त्व के ज्ञान का आधार, विचार की साधारण प्रणाली नहीं, वरन् ध्यान की अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था समाधि है। समाधि अवस्था में ज्ञाता का वस्तु के स्वरूप से सीधा सम्बन्ध होता है। इससे समाधि अवस्था का ज्ञान निर्भ्रान्ति होता है। अतः उपनिषदों में परस्पर विरोध देखने की प्रवृत्ति उचित नहीं है।

अब हमारे सामने फिर वही प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि उपनिषदें परम सत्य पर एक मत हैं, तब उनमें परस्पर विरोधी श्रुतियें क्यों मिलती हैं? तथा दूसरे, भिन्न-भिन्न आचार्य उनमें भिन्न-भिन्न मतों की स्थापना क्यों करते हैं? यह ठीक है कि भिन्न-भिन्न भाष्यकार अपने-अपने मतों की स्थापना इन्हीं उपनिषदों में करते हैं, परन्तु कोई भी भाष्यकार मुख्य ग्यारह उपनिषदों में विरोध को स्वीकार नहीं करता। आचार्य शंकर के अनुसार सारी मुख्य उपनिषदें अद्वैतवाद का प्रतिपादन करती हैं और मध्व के अनुसार ये सब द्वैतवादी हैं। तथ्य यह है कि उपनिषदों की आपस में विरोधी दीख पड़ने वाली श्रुतियों में वास्तविक विरोध नहीं है वरन् इनमें एक ही सत्य के विभिन्न पक्षों का वर्णन है। जैसे श्री शंकराचार्य द्वैत प्रतिपादक श्रुतियों को व्यावहारिक व पारमार्थिक अवस्था का भेद करने वाली बताते हैं तथा अद्वैतवादी श्रुतियों को निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली श्रुति। प्रतीत यह होता है कि पश्चिमी विद्वानों की यह आदत पड़ गई है कि वे ग्रन्थों में विरोध देखने का प्रयत्न करते हैं और यही नहीं बल्कि जहां उन्हें विरोध दिखायी पड़ता है उन्हें इससे प्रसन्नता होती है।[2] लेकिन ऋषि प्रणीत ग्रन्थों को योग-बुद्धि द्वारा ही सफलतापूर्वक समझा

---

१. 'यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह।' तै० उपनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली अनुवाक-४

2. "To us Upanishads have, of course, a totally different

जा सकता है, जिसका उनमें सर्वथा अभाव था।

क्या उपनिषदों में शंकर का अद्वैत है ?—स्वामी शंकराचार्य अद्वैतवाद के प्रवर्तक थे। उनके विचार से उपनिषदें अद्वैतवाद के ही ग्रंथ हैं। स्वामी शंकराचार्य के मतानुसार उपनिषदों ने एक ही ब्रह्म को सत्य बताया है जिसकी कोई व्याख्या नहीं की जा सकती क्योंकि ब्रह्म निर्गुण है। ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई तत्त्व अनादि नहीं है। ब्रह्म ही अपनी माया से अनेक प्रकार की सृष्टि रचता है। माया के विषय में उनका कहना है कि यह न सत् और न असत् क्योंकि ब्रह्म के समान इसकी सता न होने से यह सत् नहीं है और आकाश पुष्प के समान मिथ्या न होने से यह असत् भी नहीं। उनके विचार से माया सत्-असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय है अर्थात इतनी दुरुह है कि उसके बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। ब्रह्म माया के द्वारा अनेक रूप में प्रतीत होता है।[1] वास्तव में ब्रह्म का परिणाम नहीं होता, क्योंकि ब्रह्म निराकार व निष्कलंक है, अतः इसमें परिणाम नहीं हो सकता। आचार्य शंकर विवर्तवाद के समर्थक हैं। विवर्तवाद के अनुसार कारण अपना स्वरूप तजे बिना कार्यरूप में दिखाई देता है। यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है अर्थात् शंकर के मतानुसार ब्रह्म में जगत् की प्रतीती होती है परन्तु इससे ब्रह्म के स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जैसे मृत्तिका के घटपटादि अनेक रूप हो जाते हैं परन्तु मृत्तिका वैसी ही रहती है।[2] विचार करने पर पता चलता है कि शंकराचार्य का अद्वैतवाद

interest. We watch in them the historical growth of philosophical, thought and are not offended, therefore, by the variety of their opinions. On the contrary, we expect to find variety, and are even pleased when we find independent thought and apparent contradictions between individual teachers, although the general tendeney of all is the same." The Vedanta Philosophy. P. 24. Max Muller. Ist Edition, 3rd reprint.

१. "इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते।' बृहदारण्यकोपनिषद् २।५।१९

२. "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वंमृन्मयं विज्ञातंस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"। (छा० उ० ६-१-४)

उपनिषदों में जगत् की सत्ता को स्वप्नवत् मिथ्या मानता है सत्य नहीं।

दूसरी तरफ, हमें उपनिषदों में ऐसी श्रुतियें भी दिखाई पड़ती हैं जो संसार के अस्तित्व व उसके कारण को सत्य मानती है।[1] स्वामी शंकराचार्य का मायावाद—जिस प्रकार से वह उसका वर्णन करते हैं, उपनिषदों में हमें कहीं दिखाई नहीं पड़ता। यही कारण है कि श्री रामानुजाचार्य ने अपने ग्रन्थों में मायावाद की तर्कपूर्ण आलोचना की है। वे वैदिक साहित्य में शंकराचार्य द्वारा आरोपित मायावाद को नितान्त असंगत बताते हैं। वे विशिष्टाद्वैतवाद को उपनिषदों का सही मत बताते हैं।

इन आचार्यों से भिन्न, महर्षि दयानन्द का औपनिषदिक दर्शन के बारे में एक अलग मत है। वे उपनिषदों को त्रैतवादी मानते हैं। इनके अनुसार इन ग्रन्थों में ब्रह्म, जीव व प्रकृति इन तीनों को अनादि माना गया है। स्वामी दयानन्द का कहना है कि उपनिषदों में शंकर के मायावाद का कहीं भी उल्लेख नहीं है। यह ठीक है कि इनमें कहीं-कहीं माया शब्द का उल्लेख आया है परन्तु जहां कहीं भी इस प्रकार का उल्लेख आया है वहां माया शब्द का तात्पर्य शंकर की माया से नहीं है। श्वेताश्वेतरोपनिषद् कहता है कि "माया को प्रकृति जानो",[2] अर्थात् माया यहां त्रिगुणमयी प्रकृति के लिये प्रयुक्त हुआ है। उपनिषदें जगत् के मिथ्यात्व का वर्णन नहीं करतीं, और ना ही जगत् को ब्रह्म का विवर्त ही कहती हैं। परन्तु इसके विपरीत इनमें परिणामवाद का बार-बार जिक्र आता है। उपनिषदों में पायी जाने वाली इसी यथार्थवादी विचारधारा के अनुकूल सांख्य शास्त्र अपने सिद्धांत, कि प्रधान सृष्टि का मूल कारण हैं, को श्रुति सम्मत बताता है।[3] उपनिषदों में सृष्टि-रचना का वर्णन जिस रूप में किया गया है

---

१. "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।" श्वेताश्वेतरोपनिषद् १।९

२. 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयव भूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।' श्वेताश्वेतरोपनिषद ४-१०

३. 'श्रुतिरपि प्रधान कार्यत्वस्य।' सांख्य सूत्र ५।१२

वह विशुद्ध यथार्थवादी है, जगत् को मिथ्या अथवा स्वप्नवत् या भ्रम मानने वाला ऋषि कभी भी सृष्टि रचना का ऐसा यथार्थवादी भाषण नहीं करता। उपनिषदों में प्रकृति और जीव को भ्रम तो नहीं कहा गया, हां यह अवश्य कहा गया है कि ब्रह्म नित्यों का नित्य है,[1] अर्थात् जीव और प्रकृति, इन अनादि तत्त्वों का स्वामी अनादि ब्रह्म है। डा० राधाकृष्णन् का तो यह मत है कि उपनिषदों में प्राप्त होने वाले यथार्थवादी तत्त्वों को आगे चलकर सांख्य शास्त्र में और भी बल मिला।[2] इससे स्पष्ट है कि उपनिषदें मायावादी न होकर यथार्थवादी हैं।

स्वामी दयानन्द ने यद्यपि उपनिषदों पर कोई भाष्य नहीं लिखा तथापि इनके सम्बन्ध में आपका यह त्रैतवादी मत आपके द्वारा रचित ग्रन्थों में उद्धृत उपनिषदों के मन्त्रों की व्याख्या में स्पष्ट देखने को मिलता है। स्वामी जी अपने मत की पुष्टि में उपनिषदों के मन्त्रों को स्थान-स्थान पर उद्धृत करते हैं।

उपरोक्त विवेचन से अब यह स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदों के विषय में दयानन्द का यथार्थवादी-त्रैतवाद अपने में बल रखता है। साथ ही यह भी पता चलता है कि यह कोई उनकी एकदम नई विचारधारा नहीं है, जिसे उच्छृङ्खल कहा जा सके, वरन् उससे पूर्व भी अनेक आचार्य इसे मानते थे, लेकिन कुछ भिन्न रूप में। दयानन्द के त्रैतवाद की उपनिषदों में प्राप्ति होती है या नहीं इसका हम आगे विवेचन करेंगे।

उपनिषदों में दयानन्द का त्रैतवाद-ब्रह्म, जीवात्मा व प्रकृति

उपनिषदों में शंकर मत की आलोचना—स्वामी दयानन्द उपनिषदों में त्रैतवाद के पोषक हैं। उनके विचार में मुख्य ग्यारह उपनिषदों में ब्रह्म-जीव-

---

१. 'नित्यो नित्यानाम् चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।' श्वेत० उ० ६-१३

2. "The realistic tendencies of the Upanishads receive emphasis in the Samkhya conception of the Universe." Indian Philosophy, Vol. 2, p. 250.—
Dr. S. Radhakrishnan.

प्रकृति इन तीनों के अनादित्व का वर्णन है। ब्रह्म को उपनिषदों में 'एकमेवाद्वितीयम्' के रूप में अद्वितीय कहा है। अद्वैतवादी आचार्य इस वाक्य को व्यावर्तक अर्थों में लेकर यह बताते हैं कि ब्रह्म अद्वितीय है अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।। शंकराचार्य इस पद का भाष्य करते हुए लिखते हैं कि जिस प्रकार मृत्तिका को घटादि में परिणत करने वाला निमित्त कारण कुम्हार देखा जाता है, उसी प्रकार सत् से भिन्न सत् का कोई अन्य सहकारी कारणरूप पदार्थ होता है, इस वाक्य में अद्वितीय शब्द से उसका प्रतिषेध किया गया है अर्थात् सत् से अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है, इसे श्रुति अद्वितीय शब्द से बताती है।[1]

उपरोक्त पद की आचार्य शंकर द्वारा की गयी इस व्याख्या को स्वामी दयानन्द स्वीकार नहीं करते। उनके विचार से विशेषण का कार्य केवल भेद करना मात्र ही नहीं होता बरन् विशेषण प्रवर्तक और प्रकाशक भी होता है। वह कहते हैं कि यहां पर व्यावर्तक धर्म से अद्वितीय विशेषण, ब्रह्म को अन्य तत्त्वों, जैसे जीव व प्रकृति से अद्वितीयता अर्थात् पृथकता दिखाता है और प्रकाशक धर्म से ब्रह्म के एक होने का बोध कराता है।[2] परन्तु ब्रह्म के एक होने से उपनिषद् के ऋषि का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई तत्त्व है ही नहीं। यह ठीक है कि ब्रह्म के समान सामर्थ्य व शक्ति किसी अन्य में नहीं है, तथा साथ ही ब्रह्म से अधिक भी कोई नहीं है परन्तु ब्रह्म से न्यून जीव व प्रकृति का निषेध इस वाक्य में नहीं है। स्वामी दयानन्द और शंकराचार्य में यहां पर यही अन्तर है कि स्वामी दयानन्द अद्वितीय और अद्वैत शब्द से ब्रह्म

---

१. देखिये छा० उ० ६।२।१ पर शंकर भाष्य।

२. "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।" (छान्दोग्योपनिषद् ६।२।१) के इस वाक्य पर स्वामीजी कहते हैं 'इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म सदा एक है और जीव तथा प्रकृतिस्थ तत्त्व अनेक हैं। उनसे भिन्न कर ब्रह्म के एकत्व को सिद्ध करनेहारा अद्वैत का अद्वितीय विशेषण है।' सत्यार्थ प्रकाश पृ० १६८।

की सर्वशक्तिमत्ता व सर्वोत्तमता को मानते हैं जबकि जगद्गुरू शंकराचार्य इससे ब्रह्माद्वैतवाद की स्थापना करते हैं, तथा इस श्रुति वाक्य से ब्रह्म के अलावा अन्य सभी तत्त्वों की सत्ता का निषेध करते हैं। अपनी इस व्याख्या व मान्यता में स्वामी दयानन्द यहां पर श्री रामानुज व मध्व से मेल खाते हैं। दयानन्द कहते हैं कि "अद्वैत शब्द परमेश्वर का विशेषण है जैसे एक-एक मनुष्यादि जाति जगत् में अनेक व्याप्तियां हैं वैसा परमेश्वर नहीं। किन्तु वह तो सब प्रकार से एक मात्र ही है"।[1] तात्पर्य यह है कि दयानन्द के मत में उपनिषदों में परमेश्वर सर्वोच्च व सर्वशक्तिमान होने से अद्वितीय कहा गया है ब्रह्माद्वैत के रूप में नहीं हैं।

ब्रह्म समस्त पदार्थों से अति सूक्ष्म है तथा आकाश के समान सर्वत्र व्यापक है और समस्त पदार्थों में सबके अन्तरात्मा से समान रहता है। उपनिषद् स्पष्ट कहता है "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**" (छा० ३।१४।१) अर्थात् ब्रह्म सर्वत्र ओत-प्रोत है। अद्वैतवादी इस पद का अर्थ करते हैं कि यह सारा जगत् ब्रह्म ही है। प्रायः अद्वैतवादी इस पद का '**नेहनानास्तिकिंचन**' (क० २।१।११) को मिला देते हैं। वे कहते है "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म। नेह नानास्तिकिंचन**" अर्थात् सब कुछ ब्रह्म ही हैं इसमें नानात्व कुछ भी नहीं है और जो इसमें बहुत्व को देखता है अर्थात् द्वैतवादी है वह बार-बार मृत्यु को प्राप्त होता है।[2] इन औपनिषदिक पदों के विषय में स्वामी दयानन्द कहते हैं कि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" व "नेह नानास्ति किंचन" यह दो वाक्य दो पृथक उपनिषदों के है। तथा इनको प्रकरणानुसार पढ़ने पर इनका अर्थ उस अर्थ से सर्वथा भिन्न होता है जैसा कि अद्वैतवादी करते हैं। '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' के साथ '**तज्जलानिति शान्त उपासीत**' पद है जिसका स्वामी दयानन्द इस प्रकार अर्थ करते हैं कि 'हे जीव तू (सर्वव्यापक) ब्रह्म की उपासना कर जिस ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति,

---

१. दयानन्द ग्रंथमाला, भाग २, पृ० ६०२।

२. 'मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति।' कठ० उ० २।१।११

स्थिति और जीवन होता है"।[1] "नेह नानास्ति किंचन" यह पद कठोपनिषद् का है। स्वामी दयानन्द के अनुसार इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार होना चाहिये कि 'इस चेतनमात्र अखण्डैकरस ब्रह्म में नाना वस्तुओं का मेल नहीं है। परन्तु यहां पर भी छान्दोग्योपनिषद् ब्रह्म के 'एकमेवाद्वितीयम्' के समान ही कठोपनिषद् भी ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सत्ताओं के अस्तित्व का विरोध नहीं कर रहा वरन् यह बता रहा है कि अखण्डैकरस ब्रह्म में किसी अन्य वस्तु का मेल नहीं है। जैसे शुद्ध सोना वही होता है जिसमें किंचितमात्र भी किसी अन्य धातु का मेल न होता हो उसी प्रकार से ब्रह्म भी एकरस है। अर्थात् ब्रह्म में किसी अन्य बस्तु का मेल नहीं इससे वह सर्वत्र समानरूप होने से एकरस है। जीव ब प्रकृति पृथक्-पृथक् अपने-अपने स्वरूप में परमेश्वर के आधार से उसमें स्थित है इससे ब्रह्म की शुद्धता का बाध नहीं होता।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी दयानन्द उपनिषदों के इन वाक्यों से सफलता-पूर्वक त्रैतवाद की सिद्धि कर देते हैं।

उपनिषदों में ब्रह्म को भोग प्रदान करने वाला कहा गया है, जबकि जीवात्मा को भोक्ता। मुण्डकोपनिषद् स्पष्ट कहता है "दो सुन्दर गतियुक्त पक्षी एक ही प्रकृतिरूपी वृक्ष पर स्थित हैं उनमें से एक प्रकृति के स्वादों का उपभोग

---

१. सत्यार्थ प्रकाश पृ, २१२.
इसी सम्बन्ध में 'वेदविरुद्धमतखण्डनम्' दयानन्द ग्रंथमाला भा० २ पृ० ८०६ का निम्नलिखित उद्धरण स्वामी जी के मत को और भी स्पष्ट करता है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' पर स्वामी दयानन्द कहते हैं समाधि के संयम करने में विज्ञान के प्रकाश से जैसा ब्रह्मस्वरूप जाना जाता है उस समय किया विद्वानों का अनुभव ही श्रुति का तात्पर्य है जैसे किसी ने कहा कि यह स्वर्ण है इसमें पीतल आदि धातु नहीं मिले हैं वैसे सच्चिदानन्दस्वरूप एकरस ब्रह्म के बीच में नाना वस्तुयें मिली नहीं कि यह सब ब्रह्म एक रस है ऐसा जानना चाहिये।'

२. दयानन्द ग्रन्थमाला भाग २, पृ० ६०२।

करता है।"[१] इस मन्त्र के अर्थ में स्वामी जी लिखते हैं "इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है वह वृक्षरूप संसार में पाप-पुण्यरूप फलों को अच्छी प्रकार भोक्ता है और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को (अनश्नन्) न भोक्ता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है।"[२] अगले मन्त्र में मुण्डक उपनिषद् और भी स्पष्ट कहता है कि "प्रकृति रूपी वृक्ष पर भोक्ता जीवात्मा निमग्न है, प्रकृति की आवरणात्मक शक्ति से मोह को प्राप्त हो रहा है। जब योगी शुद्ध होकर ईश्वर को अपने से भिन्न देखता है और इसकी विशाल अनन्त महिमा को देखता है तब शोक से रहित हो जाता है।"[३] इन मन्त्रों में हम देखते हैं कि उपनिषद् स्पष्ट कह रहा है कि ब्रह्म जीवात्माओं के पाप-पुण्य रूप कर्मों के फलों का देने वाला है। जबकि जीवात्मा ब्रह्म से अन्य भोक्ता है तथा प्रकृतिरूपी वृक्ष का भोग करता है। श्री द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री का विचार है कि उपनिषदों में भोक्ता जीव भोग्या प्रकृति तथा सब पर शासन करने वाले ब्रह्म का व्याख्यान पाया जाता है। आपका मत है कि इनमें ब्रह्म सर्वज्ञ, विभु, सर्वशक्तिमान तथा सृष्टि का रचयिता, पालनकर्त्ता व संहरता है। जीवात्मा अल्प शक्तिवाला, अणु व परिच्छिन्न, कर्म में स्वतन्त्र परन्तु फलभोग में परतन्त्र है, तथा प्रकृति अचेतन, पराधीन, परिणामी एवं जगत् का उपादान कारण व नित्य है।"[४] (शास्त्री जी पर स्वामी दयानन्द का पूर्ण प्रभाव मालूम पड़ता है।)

इसके अतिरिक्त हम यह देखते हैं कि अद्वैतवादी आचार्य, द्वैतभाव प्रतिपादित करने वाली श्रुतियों को व्यवहार की श्रुतियां कहते हैं परमार्थ की नहीं। क्योंकि

---

१. 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।' मु० उ० ३-१-१।

२. सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ २०९।

३. 'समाने वृक्षे पुरुषोनिमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमीति वीतशोकः'। (मु० ३-१-२। इन मन्त्रों पर आर्य मुनि देखिये।)

४. देखिये संस्कृत साहित्य विमर्श, पृष्ठ १५०।

उनके मत में परमार्थ में तो केवल अद्वैत है। लेकिन इस पर हम प्रश्न कर सकते हैं कि उपनिषदों में कहां पर पारमार्थिक व व्यावहारिक इन दो सत्ताओं के तात्त्विक भेद की बात कही गई है? क्या उपनिषद् सृष्टि-रचना का वर्णन नहीं करते? यदि करते हैं तब संसार को स्वप्नवत् मिथ्या क्यों माना जाय और व्यावहारिक व पारमार्थिक स्तरों को मानने का क्या आधार है? **व्यावहारिक स्तर पर अद्वैतवादी भी त्रैतवाद को ही मानते हैं। अद्वैतवादियों के व्यावहारिक स्तर पर भेद मानने से उपनिषदों में स्वामी दयानन्द की त्रैतवादी विचारधारा को ही बल मिलता है और हम कह सकते हैं कि उपनिषदों में त्रैतवाद के समर्थक मन्त्र हैं इसीलिये तो ब्रह्मवादी उन्हें व्यावहारिक स्तर का बताते हैं।** जो इस प्रकार के मन्त्र न होते तो क्यों व्यवहार की कल्पना करते। उपनिषदों में सृष्टि का वर्णन जितने यथार्थवादी ढंग से पाया जाता है उससे कोई भी अनुभव कर सकता है कि इनमें भ्रमवाद को तनिक भी स्थान नहीं है।[1]

ब्रह्म सृष्टि का रचने वाला है—स्वामी दयानन्द के अनुसार उपनिषदों में ब्रह्म को सृष्टि का रचयिता कहा गया है कि जिससे सारे भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर उसी में रहते हैं, पश्चात् प्रलयकाल में नष्ट होकर ब्रह्म के गर्भ में (अव्यक्तावस्था में) चले जाते हैं।[2] स्वामी जी उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म को सृष्टि का निमित्त कारण मानते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म प्रकृति से जो कि प्रारम्भ में अव्यक्तावस्था में थी, अनेक प्रकार की सृष्टि करता है, जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषद् भी कहता है कि प्रारम्भ में यह सब असत् अर्थात् अव्यक्त-

---

१. "This idea that the world is only Maya and illusion, a vision, a nothing was what Colebrooke meant when he said it was absent from the Upanishads, and the original Vedanta philosophy and so far he is right."

The Vedanta philosophy, P. 70, Max Muller.

२. 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसं विशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। द् ब्रह्मेति।' तै० उ० भृगुवल्ली अनु० १।

रूप असत् था उससे सत् अर्थात् व्यक्त हुआ और इसको अव्यक्त से ब्रह्म ने व्यक्त किया।[1] यहां पर औपनिषदिक ऋषि इस बात पर बल दे रहा है कि सृष्टि का उत्पन्न करने वाला ब्रह्म ही है। लेकिन ब्रह्म सृष्टि का उपादान वा अभिन्न-निमित्तोपादान कारण नहीं जैसा कि ब्रह्मवादी कहते हैं, वरन् ब्रह्म सृष्टि का निमित्त कारण है। उपनिषदों में सृष्टि का उपादान कारण प्रकृति को माना गया है।

सृष्टि ब्रह्म का विवर्त नहीं है—स्वामी दयानन्द परिणामवाद को मानते हैं, उपनिषदों में भी आपका यही विचार है। यदि इस बात को मान लिया जाता है कि उपनिषद् ग्रन्थों में विवर्तवाद नहीं बल्कि परिणामवाद है तब यह भी मानना आवश्यक हो जाएगा कि ब्रह्म के साथ-साथ प्रकृति भी अनादि पदार्थ है। स्वामी दयानन्द नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाले ब्रह्म को परिणामी नहीं मानते, क्योंकि इससे उसका स्वरूप विकृत हो जायगा। परिणामवाद के अनुसार उपादान कारण के गुण, कर्म य स्वभाव कार्य में वैसे ही आ जाते हैं। स्वामी जी का कहना है कि संसार जड़ है अतः इसका उपादान भी जड़ ही होना चाहिए और वह प्रकृति ही हो सकती है। श्वेताश्वेतरोपनिषद् (४–५) का भाष्य करते हुये स्वामी दयानन्द कहते हैं "यह उपनिषद् का वचन है। प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों अज अर्थात् जिनका जन्म कभी नहीं होता और न कभी ये जन्म लेते अर्थात् ये तीन सब जगत् के कारण हैं। इनका अन्य कोई कारण नहीं, इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फंसता है और उसमें परमात्मा न फंसता और न उसका भोग करता है।'[2]

उपनिषदों में यथार्थवादी विचारधारा कोई नई विचारधारा नहीं है और न ही उपनिषदों के विरुद्ध ही प्रतीत होती है। सांख्य शास्त्र का द्वैतवादी सिद्धान्त

---

१. 'असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानं स्वयमकुरुत।' तै० उ० ब्रह्मानन्द वल्ली अनु० ७ मं० १।

२. 'अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वी प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्त भोगामजोन्यः।' इस मन्त्र पर दयानन्द-भाष्य के लिये देखो सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ २१०। श्वेताश्वेतरोपनिषद् ४-५।

भी उपनिषदों में वर्तमान बताया जाता है। सांख्य प्रधान को त्रिगुणात्मक मानता है। ठीक इसी प्रकार के मन्त्र उपनिषदों में भी प्राप्त होते हैं जिनमें प्रधान को त्रिगुणात्मक कहा गया है जैसे "एक अनादि रक्त, श्याम व श्वेत वर्ण वाली है।"[1] रक्त, श्याम व श्वेत वर्ण को क्रमशः रज, तम व सत्व लिया जा सकता है। आगे मन्त्र कहता है यह अत्यन्त मनोहारी अनेक प्रजा का सृजन करती है। सांख्य शास्त्र भी उपनिषदों में प्रकृति के अनादित्व को मानता है।[2] सांख्य का सत्कार्यवाद का सिद्धान्त भी उपनिषदों में यथावत् उपलब्ध होता है। छान्दोग्य उपनिषद् कार्य से कारण का वर्णन करते हुये कहता है "हे श्वेतकेतो! अन्नरूप पृथ्वी कार्य से जलरूप मूल कारण को तू जान। कार्यरूप जल से तेजोरूप मूल और तेजोरूप कार्य से सद्रूप कारण जो नित्य प्रकृति है उसको जान। यही सत्यस्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूल घर और स्थिति का स्थान है और यह सब संसार सृष्टि से पूर्व असत् के समान प्रकृति में लीन होकर वर्तमान था।"[3] इस मन्त्र में कार्यकारणवाद की प्रक्रिया कुछ इस प्रकार है जिससे यह प्रतीत होता है कि सांख्यों का सत्कार्य का सिद्धान्त इसी मन्त्र पर आधारित है। इसके अतिरिक्त उपनिषदों में यत्रतत्र अनेक और भी इस प्रकार के मन्त्र मिलते हैं जिनसे सांख्य विचारधारा की पुष्टि होती है। एक अन्य स्थल पर श्वेताश्वेतरोपनिषद् कहता है "जिस प्रकार मकड़ी अपना जाला बुनकर स्वयं को जाले के पीछे आवृत कर लेती है उसी प्रकार देव ने प्रधानरूपी तन्तुओं से अपने को आवृत कर लिया है।"[4] उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट

---

१. "अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वी प्रजाः सृजमानां सरूपाः।"
श्वेताश्वेतरोपनिषद् उ० ४-५।

२. 'श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य।' सां सूत्र ५–१२।

३. '[एवमेव खलु] सोम्यान्नेन शुर्गेनापो मूलमन्विच्छद्भिः सोम्य शुर्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुर्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्यप्रतिष्ठाः।' छा० उ० ६-८-४।

४. 'यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत्।'
श्वेत० उ० ६-१०।

होता है कि उपनिषदों में कई मन्त्र ऐसे हैं जिनसे यह पता चलता है कि प्रकृति—जोकि बाद में सांख्यों का प्रधान बनी—ब्रह्म के साथ-साथ अनादि है। यही प्रकृति प्रलयावस्था में ब्रह्म के गर्भ में अव्यक्तावस्था में वर्तमान रहती है इसका सर्वथा अभाव नहीं होता।

उपनिषदों में ब्रह्म व जीव का भेद

दयानन्द त्रैतवादी हैं, आपके सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म व जीवात्मा दोनों अनादि तत्त्व हैं तथा तीसरा पदार्थ प्रकृति भी अनादि है। उनका यह सिद्धान्त दर्शन की भाषा में यथार्थवाद (Realism) कहा जा सकता है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है दयानन्द उपनिषदों के मन्त्रों का भी त्रैतवादी अर्थ करते हैं। आपका विचार है कि उपनिषदों में जीव को ब्रह्म से पृथक माना गया है। आपके अनुसार ये ग्रन्थ जीव को भी ब्रह्म के साथ ही अनादि मानते हैं। उपनिषद्-शास्त्रों में ब्रह्म व जीव के भेद का कथन करने वाली श्रुतिमां अनेक स्थलों पर मिलती हैं। भोक्ता जीव अपने कर्मफलों को भोगने के लिये विवश है। जबकि परमात्मा कर्मफलों को जीव के लिये देता है। जीव कर्म करता तथा कर्मों के फलों को यथायोग्य ब्रह्म के शासन में भोक्ता है। परन्तु ब्रह्म कर्त्तापन के राग में नहीं पड़ता क्योंकि वह आप्तकाम है, उसके लिए कोई भी कार्य करने के लिये बाकी नहीं है। मुण्डकोपनिषद् कहता है कि "एक ही (प्रकृति-रूपी) वृक्ष पर (जीवात्मा व परमात्मारूपी) दो पक्षी बैठे हैं जिनमें से एक उस वृक्ष के फलों को खाता है अर्थात् जीवात्मा प्रकृति के भोगों को भोगता है और दूसरा परमात्मा प्रकृति के फलों को न खाता हुआ साक्षीरूप से देख रहा है।"[२] उपनिषद् के इस मन्त्र में स्पष्ट परमात्मा व जीवात्मा का भेद प्रदर्शित किया गया है।

स्वामी जी का यह मत मायावादी अद्वैतवाद के विरुद्ध है। अपने उपनिषद् भाष्य में शंकराचार्य जी स्थान-स्थान पर ब्रह्म व जीव की एकता का प्रतिपादन

---

१. 'ईश्वर नाम ब्रह्म का और ब्रह्म से भिन्न अनादि अनुत्पन्न और अमृत-स्वरूप जीव का नाम जीव है।' दयानन्द, सत्यप्रकाश १९७।

२. 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।' मुण्डकोपनिषद ३-१-१।

करते हैं। उनके मत से जीवात्मा ब्रह्म का प्रतिबिम्बमात्र है, जो अविद्या में पड़ता है अथवा अन्तः करणोपाधि से परिच्छिन्न ब्रह्म ही जीव है जैसे घटाकाश मठाकाश इत्यादि। शांकर मत में अविद्या वास्तव में माया ही है। मायावाद के विचारक माया के स्वरूप को आज तक भी निश्चित नहीं कर पाये। इनके विचार से माया एक अद्भुत शक्ति है जो ब्रह्म पर अविद्यात्मक प्रभाव डालती है। स्वामी दयानन्द के विचारों के अनुसार शंकर के मायावाद में सबसे बड़ी कमी यही है कि इनके मत में माया अपना प्रभाव अविद्या के रूप में ब्रह्म पर डालती है तथा ब्रह्म जो शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वज्ञ आदि स्वभाव वाला है, अपना स्वभाव भूलकर अल्पज्ञ, पाप-पुण्य कर्मों का कर्त्ता एवं भोक्ता, अणु आदि अल्प स्वभावों वाला हो जाता है। संक्षेप में ब्रह्म अपने स्वरूप से च्युत हो जाता है। हमारे विचार से ब्रह्म व जीव के सम्बन्ध में इस प्रकार की मायावादी कल्पना उपनिषदों में कहीं भी नहीं है। हां, दूसरी ओर ऐसे मन्त्र तो बराबर मिलते हैं, जिनमें कहा गया है कि ब्रह्म अपने शान्त, शिव व अद्वैत (अद्वितीय) रूप में सदैव वर्तमान रहता है।[1]

इसके अतिरिक्त यदि हम दूसरे साधनों से भी देखें तो भी उपनिषदों में ब्रह्म व जीव का अद्वैत भाव सिद्ध नहीं होता। उपनिषदों में ब्रह्म की उपासना का आदेश दिया गया है। ब्रह्म केवल उपासना से ही प्राप्त हो सकता है अन्य किसी साधन से नहीं। परन्तु यदि ब्रह्म व जीव को एक ही मान लिया जाय तब कौन किसकी उपासना करेगा; क्या ब्रह्म-ब्रह्म ही की उपासना करे। ब्रह्म व जीव को पृथक माने बिना उपास्य-उपासक सम्बन्ध बन ही नहीं सकता। उपनिषदों में उपासना का परम लक्ष्य ब्रह्म बताया गया है जिसे जीवात्मा को प्राप्त करना चाहिये। इससे ब्रह्म का जीव से पृथक होना ही सिद्ध होता है।

तप व उपासना के द्वारा जो ऋषि परमात्मा के समीप तक पहुँच जाते हैं, उस स्थिति का वर्णन उपनिषद् ग्रंथों में अनेक स्थानों पर मिलता है। समाधि

---

१. 'शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।'
माण्डूक्योपनिषद्' ७।

की अवस्था में योगी के सम्मुख केवल उसका लक्ष्य होता है, संसार व उसका स्वयं का भाव समाप्त हो जाता है।[1] समाधि की अवस्था इतनी गूढ़ होती है कि इसमें योगी के सामने केवलमात्र ज्ञान होता है। लेकिन इससे भी गहरी असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति होती है, इसमें द्रष्टा परमात्मा में इतना निमग्न हो जाता है कि वह स्वयं को बिल्कुल भूल जाता है तब उपनिषद् की भाषा में 'कौन किसको देखे' (कं केन पश्यति) और ऐसी अवस्था में ऋषि कह उठता है 'मैं ब्रह्म हूँ।' देखने पर यह उपनिषद् वाक्य अद्वैत समर्थक लगते हैं, परन्तु द्वैतवादी इनके अर्थ ब्रह्म व जीव के भेद में लगाते हैं। उनका कहना है कि सारे उपनिषद् कह रहे हैं कि ब्रह्म का ज्ञान कर लेने पर द्रष्टा के सारे संशय, कर्म व दुखों का नाश हो जाता है, वह सकल्पमात्र से अपने सारे कामों को पूर्ण कर लेता है, उनको जानने के लिये और कुछ भी बाकी नहीं रह जाता, वह महान् व सर्वज्ञ हो जाता है, परन्तु ब्रह्म नहीं होता। क्योंकि परमात्मा परम ब्रह्म है "यो परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मु० उ० ३–२–९) अर्थात् जो परम ब्रह्म परमात्मा को जान लेता है वह ब्रह्म अर्थात् महान् हो जाता है। यही नहीं बल्कि इसको और भी स्पष्ट करता हुआ यही उपनिषद् आगे कहता है कि 'जब द्रष्टा ज्योतिरूप कर्त्ता ईश्वर को, परम पुरुष को और ज्ञान के आदि स्रोत को देख लेता है। तब वह विद्वान् पाप-पुण्य के बन्धन को झाड़ कर निर्मल हो भगवान की परम समता को प्राप्त होता है।'[2] इस मन्त्र से भी यही स्पष्ट होता है कि मुक्ति की अवस्था में जीवात्मा ब्रह्म नहीं हो जाता वरन् ब्रह्म के साथ परम साम्यता को प्राप्त होता है। दयानन्द कहते हैं कि जीव जब ब्रह्म के आनन्दआदि गुणों को अपने में धारण कर लेता है तब वह ब्रह्म के समान दिखाई पड़ने लगता है, जैसे एक लोहे का गोला अग्नि के गुणों को अपने में धारण कर अग्निवत् दिखाई पड़ने लगता है।

---

१. 'तदेवार्थ मात्र निर्भासं स्वरूप शून्यमिव समाधिः।'

योगदर्शन पा० ३, सू० ३।

२. 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति।' मु० उ० ३-१-३

इसके अतिरिक्त नव्य वेदान्ती (महर्षि, शंकर आदि को नव्य वेदान्ती मानते हैं) बृहदारण्यक उपनिषद् में आये वाक्य 'अहम् ब्रह्मास्मि'[1] का अर्थ 'मैं ब्रह्म हूँ' के रूप में करते हैं। इससे यह सिद्ध करते हैं कि जीवात्मा ब्रह्म ही है। महर्षि दयानन्द 'अहम् ब्रह्मास्मि' इस उपनिषद् वाक्य का अर्थ करते हुये कहते हैं कि यहां पर तात्स्थ्योपाधि है, जैसे कोई कहे कि 'मंचाः क्रोशन्ति' अर्थात् मचान पुकारते हैं। लेकिन मचान तो जड़ है, इनमें पुकारने का सामर्थ्य नहीं होता, अतः इसका तात्पर्य हुआ कि मचान पर बैठे हुये मनुष्य पुकारते हैं। ठीक इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये। परन्तु इस पर वेदान्ती प्रश्न कर सकते हैं कि ब्रह्मस्थ तो सारे ही पदार्थ हैं पुनः जीव को ब्रह्मस्थ कहने में क्या विशेषता है? स्वामी दयानन्द इसके उत्तर में कहते हैं कि यह ठीक है कि सब पदार्थ ब्रह्मस्थ ही हैं तथापि ब्रह्म से जितनी अधिक साधर्म्यता जीव की हैं उतनी किसी की नहीं इससे जीव ब्रह्म के अधिक निकटस्थ है। जीव मुक्ति में ब्रह्मज्ञानी होता है तथा ब्रह्म के साक्षात् सम्बन्ध में रहता है। ऐसी अवस्था में स्थित जीव ही कहता है 'अहम् ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ अर्थात् मैं ब्रह्म में स्थित हूँ। आगे दयानन्द कहते हैं इससे जीव और ब्रह्म एक नहीं। जैसे कोई किसी से कहे कि मैं और यह एक हैं अर्थात् अविरोधी हैं, वैसे जो जीव समाधिस्थ परमेश्वर में प्रेमबद्ध होकर निमग्न होता है वह कह सकता है कि मैं और ब्रह्म एक अर्थात् अविरोधी एक आकाशस्थ हैं। जो जीव परमेश्वर के गुण, कर्म व स्वभाव के अनुकूल अपने गुण, कर्म व स्वभाव करता है वही साधर्म्य से ब्रह्म के साथ एकता कह सकता है।[2] यहाँ पर स्वामी दयानन्द स्पष्ट हैं कि उपनिषदों का ज्ञान ऋषियों द्वारा समाधि अवस्था की साक्षात् अनुभूतियों द्वारा किया गया है। इससे उपनिषदों के गूढ़ वाक्यों का रहस्य समाधि अवस्था में ही खुल सकता है। इसी माण्डूक्योपनिषद् का वाक्य 'अयमात्मा ब्रह्म' (मण्डूक्योपनिषद् २) है। यहां पर स्वामी जी अयमात्मा से जीवात्मा का ग्रहण नहीं करते जैसा कि अद्वैत वेदान्ती करते हैं। परन्तु आपका कहना है कि 'अयमात्मा' शब्द

१. बृह० उ० १–४–१०।

२. सत्यार्थप्रकाश पृ० १९३।

ब्रह्मात्मा के लिए प्रयोग किया गया है। आगे स्वामी जी लिखते हैं "समाधि अवस्था में जब योगी को परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है तब वह कह सकता है कि जो मेरे में व्यापक है वही ब्रह्म सर्वज्ञ व्यापक है।"[1] स्वामी जी का आशय यह है कि समाधि की गहरी अवस्था में जब योगी ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, उस समय की स्थिति के विषय में वह कहता है कि जिस आत्मा को (आत्मा शब्द से 'योऽतति व्याप्नोति स आत्मा' के अनुसार ब्रह्मात्मा का अर्थ है। उपनिषदों में आत्मा शब्द प्रायः ब्रह्म के लिये प्रयोग किया जाता है।) मैं प्रत्यक्ष कह रहा हूँ, वह ब्रह्म है। नवीन वेदान्ती (अद्वैतवादी) एक अन्य उपनिषद् वाक्य 'तत्त्वमसि' (छा० प्र० ६ ख०८ म०-७) पद की व्याख्या में 'तू वह है' से 'तू ब्रह्म है' का अर्थ लेकर यह सिद्ध करते हैं कि जीव ब्रह्म ही है। दयानन्द यहां ब्रह्मवादी से पूछते हैं कि तुम यहां तत् शब्द से ब्रह्म की अनुवृत्ति कहां से लाये? दयानन्द तत् का अर्थ निम्न प्रकार लेते हैं। मन्त्र इस प्रकार है "स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। छा० उ० ६-८-७। इसका अर्थ है "जो वह अत्यन्त सूक्ष्म और इस सब जगत् और जीव का आत्मा है। वही सत्यस्वरूप और अपना आत्मा आप ही है। हे श्वेतकेतो प्रिय पुत्र! (तदात्मकस्तदन्तर्यामी त्वमसि) उस परमात्मा अन्तर्यामी से तू युक्त है।"[2] इस प्रकार दयानन्द इस पद से भी ब्रह्म व जीव के एकत्व को स्वीकार न कर उसका भेद ही दर्शाते हैं।

उपनिषदों में जीवात्मा का परिमाण अणु तथा परमात्मा को विभु वर्णित किया गया है। श्वेताश्वेतरोपनिषद् जीवात्मा के वर्णन में कहता है कि "बाल के अग्रभाग के सौ भाग करो, उनमें से एक के फिर सौ भाग करो। इस प्रकार जो सूक्ष्म टुकड़ा हो उसके समान आत्मा है।"[3] अर्थात् जीवात्मा का स्वरूप परमाणु के समान है। परन्तु ब्रह्म का स्वरूप उपनिषदों में सर्वत्र ही विभु कहा गया है।

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० १९३। २. वही, पृ० १९४।

३. 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।' (श्वेत० उ० ५–९)

उपनिषदों में ब्रह्म व जीव का भेद हमें और भी अनेक स्थलों पर मिलता है। ब्रह्म अत्यन्त सूक्ष्म है इससे वह समस्त पदार्थों में ओत-प्रोत है। जीव से भी अति सूक्ष्म होने से ब्रह्म जीव में भी व्यापक भाव से रहता है। अपने में व्यापक ब्रह्म का जीवात्मा तप के बल से साक्षात् करता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में इस प्रकार का संवाद आता है, जिनमें याज्ञवल्क्य कहते हैं "जो परमेश्वर आत्मा अर्थात् जीव में स्थित है परन्तु जीवात्मा से भिन्न है, जिसको मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता, जिस परमात्मा का जीवात्मा शरीर है, जीवात्मा के अन्दर रहकर जो नियम संचालन करता है वही अविनाशी तेरा भी अन्तर्यामी आत्मा अर्थात् तेरे भीतर व्यापक है।"[1] इस मन्त्र में ब्रह्म को जीव के अन्दर व्यापक तथा पृथक कहा गया है। श्री रामानुजाचार्य ब्रह्म व जीव में शरीरी-शरीर सम्बन्ध को मानते हैं, उनके मत का आधार उपनिषद् का यही मन्त्र है। यदि इसमें रामानुजाचार्य जी के शरीरी-शरीर भाव की अभिव्यक्ति है तब और भी स्पष्ट रूप से इसमें क्यों नहीं दयानन्द के ब्रह्म-जीव भेदवाद का प्रतिपादन है। दयानन्द व रामानुज में केवल इतना भेद है कि रामानुज ब्रह्म में स्वगत भेद को मानते हैं जबकि दयानन्द अखण्ड एकरस ब्रह्म में कोई भेद मानने को तैयार नहीं हैं।

उपरोक्त विचार विवेचन से पता चलता है कि दयानन्द के मतानुसार ब्रह्म व जीव एक दूसरे से पृथक है परन्तु ब्रह्म जीवात्मा में व्यापक है और परमाणु

---

१. 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्। आत्मनोन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (स्वामी दयानन्द ने यह मन्त्र बृहदारण्यक के हवाले से सत्यार्थप्रकाश पृ० १९४ में दिया है। परन्तु खोज करने पर निर्दिष्ट स्थल पर नहीं मिला। लेकिन यह मन्त्र यजुर्वेदीय माध्यन्दिनी शाखा के शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त हुआ। प्रचलित बृहदारण्यकोपनिषद् काण्व शाखा के शतपथ ब्राह्मण का है। यह ध्यान रहे कि बृहदारण्यकोपनिषद् शतपथ ब्राह्मण का ही एक भाग है। मन्त्र के लिये देखो शतपथ ब्राह्मण १४–६–७।

(अच्युताश्रम संस्करण ख० २ पृ० १४ पर)

२, तद् यत्तत् सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ। (बृ० उ० ५–५–२।)

के समान जीवात्मा ब्रह्म में स्थित है या हम यों कहें कि ब्रह्म व जीव एक दूसरे में प्रतिष्ठित है। उपनिषद् दयानन्द के इस विचार की पुष्टि करता हुआ स्पष्ट उल्लेख करता है कि "जो आदित्य (सूर्य में) और जो दाहिने नेत्र में पुरुष है वह एक दूसरे में प्रतिष्ठित हैं। ब्रह्म सर्वत्र व्यापक होने से सूर्य में भी है और पुरुष अर्थात् जीवात्मा में भी और ये दोनों एक दूसरे में स्थित हैं, कठोपनिषद् का ऋषि कहता है कि अपने में व्यापक परम ब्रह्म को योगी अपने हृदय की गहनतम गुहा में स्पष्ट अपने से पृथक छाया व सूर्य की तरह देखते हैं।"[1] अर्थात् जीवात्मा ब्रह्म के सम्मुख ऐसा प्रतीत होता है जैसे सूर्य के प्रकाश में छाया। इस मन्त्र पर स्वामी जी लिखते हैं "गुहां प्रविष्टौ सुकृतस्य लोके" इत्यादि उपनिषद् के वचनों से जीव और परमात्मा भिन्न है, वैसा उपनिषदों में बहुत ठिकाने दिखाया है।"[2]

उपरोक्त विवेचन से अब स्पष्ट हो गया है कि महर्षि दयानन्द का त्रैतवाद कि ईश्वर, जीव व प्रकृति तीनों अनादि हैं — उपनिषदों में यथावत् प्राप्त होता है। यह कुछ अंश तक सत्य है कि इनमें अभेदवादी श्रुतियें भी पायी जाती हैं परन्तु दयानन्द के अनुसार ये उपासना की गहन अवस्था की श्रुतियें हैं, जिनमें जीवात्मा ईश्वर के आनन्दादि गुणों को धारण कर परमात्मा के साथ तादात्म्य भाव से रहता है। दूसरी ओर जो भेदपरक श्रुतियें हैं, वे स्पष्ठ दयानन्द के मत की पुष्टि करती हैं। उपनिषदों में भेदपरक श्रुतियों के मुकाबले अभेदपरक श्रुतियां बहुत कम संख्या में हैं। परन्तु इन अभेदपरक श्रुतियों से भी अद्वैतवाद की सिद्धि किसी प्रकार नहीं होती। किसी शास्त्र का वास्तविक मत, उसमें प्राप्त एक या दो वाक्यों को उससे अलग कर प्राप्त नहीं हो सकता। उसके लिये तो सारे ही शास्त्र को देखना होगा। उपनिषदों की प्रवृति स्पष्ट ही त्रैतवाद की ओर है। यह प्रवृति उपनिषदों के एक या दो मंत्रों से नहीं वरन् सारे ही शास्त्र सें प्राप्त होती है। दयानन्द स्पष्ट कहते हैं कि इनमें ब्रह्म को नित्यों का नित्य कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म के अतिरिक्त

---

१. 'छायाऽऽतपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः।'

क० उ० ३–१

२. सत्यार्थप्रकाश पृ० ३०६।

सब कुछ अनित्य नहीं वरन् और भी कोई सत्ता नित्य है जिस पर ब्रह्म शासन करता है। यह सत्ता क्या है? यह हमें मुण्डक स्पष्ट बताता है, "एक (अजा) अनादि सत्व, रज व तम वाली प्रकृति है जो अपने में से बहुत प्रकार की प्रजा को पैदा करती है, एक (अजः) अनादि जीवात्मा है जो प्रकृति से उत्पन्न पदार्थों का भोग करता है तथा एक (अजः) नित्य परमात्मा है जो इन भोगों का भोग नहीं करता।"[1] अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त जीवात्मा व प्रकृति दो नित्य पदार्थ और भी हैं। इन श्रुतियों से दयानन्द के त्रैतवाद की पुष्टि होती है।

उपनिषदों में ज्ञान, कर्म व उपासना

विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ ई० उ० ११॥

'जो मनुष्य विद्या व अविद्या को साथ ही जानता है व अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तर कर के विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।'[2]

स्वामी दयानन्द उपनिषद् ग्रन्थों में ब्रह्म-प्राप्ति के लिये ज्ञान, कर्म व उपासना तीनों के समुच्चय को प्रतिपादित करते हैं। उपनिषद जीवन-विद्या के सर्वोच्च ग्रन्थ हैं फिर इनमें जीवन के किसी भी अंग की उपेक्षा कैसे की जा सकती है। कर्म और उपासनारहित ज्ञान केवल बुद्धि का कौशल है, जिसके लिये उपनिषदें स्पष्ट ही कहती हैं, "यह आत्मा बहुत पठन-पाठन से प्राप्त नहीं होता, न यह बुद्धि से जाना जाता है और न वह शास्त्रों के सुनने से। (वरन्) परमात्मा जिसका वरण करता है उसी के द्वारा यह प्राप्त किया जाता है। उस (साधक) के लिये (यह) अपने स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है।"[3] जो साधक श्रद्धापूर्वक

---

१. **अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमाना सरूपाः।**
अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥
श्वेत० उ० ४-५॥

२. स० प्र०, पृ० २३६।

३. **'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।**
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम।'
कठ० उ० १-२-२३॥

परमात्मा का वरण करते हैं उनके लिए यह दुर्बोध नहीं है। उपरोक्त मंत्र के सम्बन्धित अर्थ में दयानन्द ब्रह्म-प्राप्ति में पवित्र ज्ञान व पवित्र उपासना पर बल देते हैं।"[१]

स्वामी शंकराचार्य जी उपनिषदों में मुमुक्षु के लिये कर्म-मार्ग को वर्जित बताते हैं। वह कहते हैं कि उपनिषदों में "ज्ञान व कर्म का विरोध पर्वत के समान अविचल है"[२] स्वामी जी आगे कहते हैं कि "ईशावास्यमिदं—इस मंत्र के द्वारा सम्पूर्ण एषणाओं के त्यागपूर्वक ज्ञाननिष्ठा का वर्णन किया है, यही वेद (उपनिषद्) का प्रथम अर्थ है। तथा जो अज्ञानी और जीवित रहने की इच्छा वाले हैं उनके लिये ज्ञाननिष्ठा सम्भव न होने पर "कुर्वन्नेवेह कर्माणि"··· इत्यादि मंत्र से कर्म निष्ठा कही है। यह वेद का दूसरा अर्थ है।"[३] शंकराचार्य का कहना है कि इनमें सन्यास मार्ग ही उत्कृष्ट है क्योंकि कर्म मार्ग निःश्रेयस का देने वाला नहीं है। उनके अनुसार श्रुति उपदेश करती है, "जीवन या मरण का लोभ न करे, वन को चला जाये और फिर वहां से न लौटे।"[४] स्वामी जी का कहना है कि इन वाक्यों से श्रुति में सन्यास का ही विधान है। लेकिन इसके विपरीत स्वामी दयानन्द 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि···' से कहते है कि "परमेश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्य सौ वर्ष पर्यन्त अर्थात् जब तक जीवे तब तक कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करे, आलसी कभी न बैठे।"[५] परन्तु कर्म सकाम भावना से न करे वरन् यथार्थता को जानकर कर्मफल

---

१. पवित्र कर्म, पवित्रोपासना और पवित्र ज्ञान ही से मुक्ति और अपवित्र मिथ्या भाषणादि कर्म पाषाण मूर्त्यादि की उपासना और मिथ्या ज्ञान से बन्ध होता है।" स० प्र० पृ० २३७।

२. 'ज्ञान कर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्पयं यथोक्तं न स्मरसि किम् ?' ईशोपनिषद, मं० २ पर शंकरभाष्य।

३. ईशोपनिषद् शाँकर भाष्य मं० ८ के आगे। उपनिषद् भाष्य सानुवाद खण्ड १ पृ० २०-३१, गीता प्रेस गोरखपुर।

४. वही पृ० १८।

५. सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ १८३।

का त्याग ही करे। ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों में ही फल की भावना का त्याग सम्भव है क्योंकि इससे कर्मफल की तुच्छता तथा उसके बन्ध का हेतु होने का ज्ञान हो जाता है। उपनिषदों में कहीं भी कर्म छोड़ने का आदेश नहीं किया गया है बल्कि कर्म करने का आदेश तो पाया जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में पाँच प्रकार की उपासना (अधिलोक, अधिज्योतिष् अधिविज्ञ, अधिप्रज्ञ, अध्यात्म) का व्याख्यान किया गया है कि 'जो धीर पुरुष इन उपासनाओं को जान कर यथावत् व्यवहार में लाता है वह सब प्रकार के सुख ऐश्वर्यों को प्राप्त कर लेता है।।"[१] यदि उपनिषदों को कर्म करना अभिप्रेत न होता तो स्पष्ट घोषणा कर देते कि कर्मों को छोड़ देना चाहिये और कहीं वन में बैठकर बिना दैनिक कर्म किये तप करना चाहिये लेकिन यह बात नहीं है। उपनिषदें व्यावहारिक जीवन के विरुद्ध नहीं हैं तथा उसे जीवन की वास्तविकता जानकर उसमें रहने का निषेध नहीं करते। याज्ञवल्क्य स्वयं तत्त्वदर्शी महर्षि थे परन्तु गृहस्थावस्था में ही रहते थे। डा० राधाकृष्णन् भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि उपनिषदों में संसार के त्याग की बात नहीं कही गई है।[२]

ब्रह्म-प्राप्ति में कर्म व ज्ञान के साथ-साथ उपनिषदें उपासना को भी प्रमुख अंग मानती हैं। ज्ञान बुद्धि से ही प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु ब्रह्म में चित्त का स्थिर करना केवल बुद्धि का विषय नहीं है। यह तब तक सम्भव नहीं होता, जब तक साधक परमात्मा के सम्मुख अनन्य भक्ति से पूर्ण आत्मसमर्पण नहीं कर देता। बुद्धि के कौशल और चित्त को परमात्मा में स्थिर रखने में बड़ा अन्तर है। चित्त के शुद्ध होने पर ही चित्त में ध्यान की शक्ति प्राप्त होती है जिससे चित्त निरन्तर शुद्धि की ओर प्रवृत होता है। शुद्ध चित्त ही आध्यात्मिक ज्ञान का अधिकारी होता है। अशुद्ध मन विद्वान पुरुषों को

---

१. 'इतिसा महासंहिता य एवमेता महासंहिता व्याख्याता वेद। संधीयते प्रजया पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेनान्नद्येन सुवर्गेण लोकेन।' तैति० उ० १-३-४।

२. "The general impression that the upanishads require world denial is not quite correct." The Principal Upanishads p. 106., by Dr. S. Radhakrishnan.

भी दुष्ट अश्व के के समान पथ से हटा देता है ।[1] बुद्धि की पहुँच विद्या के क्षेत्र में अधिक गहरी नहीं है । केवल बुद्धि-कौशल से आत्मा प्राप्त नहीं होती । कठोपनिषद् कहता है कि 'यह आत्मा प्रवचन से प्राप्त नहीं होता, ना ही बुद्धि से और ना ही अधिक सुनने से ।'[2] श्रुत ज्ञान का सत्कार कैसे हो इसके लिये उपनिषदें उपासना का मार्ग बताती हैं ।

इन ग्रन्थों में अत्यन्त ही हृदयस्पर्शी [illegible] का विवरण मिलता है यथा मुण्डकोपनिषद् का [illegible] को प्राप्त करने का आदेश देता है "[illegible] तीर के समान मानों [illegible] ब्रह्मरूपी लक्ष्य [illegible] भगवान से विनती [illegible] लिये अपने [illegible]"[3]

उपनिषदें [illegible] कि इन तीनों [illegible] है । मुण्डकोपनिषद् [illegible] को इ[illegible] [illegible] आवरण कर[illegible] [illegible] (प्राणमार्ग) [illegible]

[illegible] विद्वान्मानो बारयेताप्रमत्तः ।'
(श्वेतः उ० २-९)

[illegible] लभ्यो न मेधया न बहूना श्रुतेन ।''
कठ० १-२-२३ ।

[illegible] तल्लक्ष्यमुच्यते ।
[illegible] (मु० उ० २-२-४)
[illegible] यतनेनैकतरमन्वेति' (प्र० उ० ५-२)

४. [illegible] सविता धियः । अग्नेज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ।' (श्वेत० उ० २-१)

प्राप्त होते हैं।"[1] प्रश्नोपनिषद् में पाँचवे प्रश्न में महर्षि पिप्लाद तीन प्रकार की उपासना पृथक्-पृथक् बताकर कहते हैं "जो ज्ञान, कर्म व भक्तिपूर्वक ओंकार की उपासना करता है वह उस परमात्मा को प्राप्त कर लेता है जहां जरा, अशान्ति व मृत्यु नहीं होती।"[2]

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि महर्षि दयानन्द का उपनिषदों में ज्ञान, कर्म व भक्ति का समुच्चय ही सही अर्थों में औपनिषदिक उपासना का रूप है।

———

१. 'तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः। सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा।'
(मु० उ० १·२-११)

२. 'ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते। तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति' (प्र० उ० ५७-)

३

स्वामी दयानन्द व षड्दर्शन

षड्दर्शन समन्वय

उपनिषदों में ज्ञान की जिस प्रक्रिया का श्रीगणेश हुआ था उसको दर्शनों ने एक दूसरे स्तर पर रखा है। औपनिषदिक साहित्य में हमें गम्भीर ज्ञान मिलता है जोकि ऋषियों द्वारा समाधि अवस्था में प्राप्त किया गया था। इन ग्रंथों में तर्क का आश्रय नहीं लिया गया था वरन् जैसा ऋषियों की अनुभूति हुई वैसा ही उन्होंने कहीं काव्य और कहीं अर्धकाव्य में व्यक्त कर दी। उपनिषदों के इसी ज्ञान को वैदिक षड्दर्शनों में वर्णित किया गया है। दर्शन-निर्माता ऋषियों का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि वे वैदिक तत्त्वज्ञान को तर्क का सुदृढ़ आधार देना चाहते थे। इस प्रकार का प्रयास यों तो सभी दर्शनों में दिखाई पड़ता है परन्तु अधिक सुस्पष्ट व सीधे रूप में सांख्य व वेदान्त दर्शनों में मिलता है।

वैदिक दर्शन संख्या में छः हैं—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा व उत्तर मीमांसा। उत्तर मीमांसा को ही ब्रह्मसूत्र तथा वेदान्त दर्शन भी कहते हैं। न्याय शास्त्र के रचयिता महर्षि गौतम, वैशेषिक के महर्षि कणाद, सांख्य के महर्षि कपिल, योग दर्शन के पतञ्जलि मुनि, पूर्व मीमांसा के जैमिनी तथा ब्रह्मसूत्र के रचयिता महर्षि बादरायण हैं। ये सभी दर्शन आस्तिक दर्शन कहलाते हैं। परम्परा के अनुसार जो दर्शन वेदों को स्वतः प्रमाण मानते हैं वे आस्तिक दर्शन कहलाते हैं तथा जो वेद की निन्दा करते हैं वह नास्तिक हैं।[1] उपरोक्त छओ दर्शन वेदों को स्वतः प्रमाण मानते हैं अतः यह आस्तिक हैं तथा

---

१. 'नास्तिको वेदनिन्दकः।' मनु० २-११।

बौद्ध, जैन व चारवाक दर्शन वेदों का उपहास व उनकी निन्दा करते हैं अतः नास्तिक कहलाते हैं। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा व ब्रह्मसूत्र यह सभी दर्शन सूत्ररूप में रचे गये हैं। सूत्र का तात्पर्य ऐसे अल्पाक्षर वाक्यों से है जिनमें विषय साररूप में परन्तु स्पष्ट तौर पर बताया जाता है।[1] सूत्र के द्वारा, दर्शन का रचयिता ऋषि, थोड़े शब्दों में विषय का निर्देश मात्र कर देता है, परन्तु इसका रहस्य जानने के लिये काफी विचार और परिश्रम की आवश्यकता होती है। दर्शन सूत्ररूप में क्यों लिखे गये हैं? ऐसा प्रतीत होता है, प्रथम तो प्राचीन काल में छापेखाने के अभाव में ग्रन्थों को कण्ठस्थ करने की प्रथा थी। स्मृति को सरल बनाने तथा सुरक्षित रखने के लिये सूत्र-पद्धति को अधिक उत्तम समझा गया। दूसरे, सूत्ररूप में दार्शनिक रहस्यों को हृदयांगम करना सरल हो जाता है क्योंकि सूत्रों में उस विषय के सभी प्रमुख विचार आ जाते हैं।

परन्तु दूसरी ओर शास्त्रों का सूत्ररूप में लिखने की प्रथा ने काफी हानि भी की है; प्रथम तो इनसे इन ग्रंथों के वास्तविक अर्थ अत्यन्त गूढ़ हो गये हैं जिससे इन्हें समझने में काफी कठिनाई होती है। दूसरे, सूत्रों में पूर्वपक्ष व सिद्धान्तपक्ष का भेद नहीं किया गया है इससे इनके सूत्रों में पूर्वापर संदर्भ बनाना कठिन हो जाता है। सूत्र-पद्धति की इन्हीं कठिनाइयों के कारण, विभिन्न भाष्यकार एक ही ग्रन्थ में वर्णित सूत्रों के अलग-अलग अर्थ करते हैं। कोई किसी सूत्र को पूर्वपक्ष का बताता है तो दूसरा भाष्यकार उसे सिद्धान्तपक्ष का बताता है। षड्दर्शनों की इसी दुर्बोधता के कारण अनेक प्रसिद्ध भारतीय व पश्चिमी विचारकों का यह विचार बना कि इन छहों दर्शनों में आपस में विरोध है, यथा वैशेषिक के परमाणुवाद व असत्कार्यवाद का सांख्य के गुणवाद व सत्कार्यवाद से विरोध है, सांख्य नास्तिक दर्शन है, मीमांसा केवल कर्मशास्त्र है तथा वेदान्त मायारूपी ग्रन्थ, इत्यादि इत्यादि। यह विचारधारा मध्य युग से चली आ रही है। श्री शंकराचार्य जी ने दर्शनों में विरोध की इस भावना को

---

१. अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

वेदान्त दर्शन पर किये अपने भाष्य में विषद् रूप में लिखा है जो बाद में व्यापक रूप में भारत तथा भारत से बाहर प्रचलित हुई। दर्शनों में विरोध के सिद्धान्त को श्री रामानुजाचार्य भी मानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह विचार रामानुजाचार्य ने शंकराचार्य से लिया है, क्योंकि जिन सूत्रों में शंकराचार्य दर्शनों में विरोध का प्रतिपादन जिस रूप में करते हैं, ठीक उसी रूप में उन्हीं सूत्रों में रामानुजाचार्य भी करते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में स्वामी दयानन्द ने वैदिक दर्शनों को एक ऐसे आधार पर रखा जो सदियों से आई परम्परागत विचारधारा के विरुद्ध था। दयानन्द की दृढ़ मान्यता है कि षड्-दर्शनों में आपस में विरोध नहीं है बल्कि इनमें से प्रत्येक सत्य के भिन्न-भिन्न पहलुओं की व्याख्या करता है।[1] स्वामी जी की इस विचारधारा का आधार यह है कि प्रथम, छहों दर्शन वेद को स्वतः प्रमाण मानते हैं अतः यह वेद की केन्द्रीय विचारधारा के विपरीत नहीं जा सकते।[2] दूसरे इनके रचयिता ऋषिगण हैं जिनका दृष्टिकोण विभ्रान्त व स्पष्ट होता है। ऋषि उसी को कहा जाता है जिसने अपने विषय का हस्तामलकवत् साक्षात् किया हो और बिना किसी पक्षपात की भावना के सत्य का प्रतिपादन किया हो। स्वामी दयानन्द कहते हैं कि 'दर्शनशास्त्र जो कि वेदों के उपांग कहे जाते हैं ऐसे ही ऋषियों के बनाये हुए हैं।'[3] स्वामी जी का यह स्पष्ट मत है कि इन शास्त्रों में आपस में कोई विरोध नहीं है। उनका कहना है कि न्याय के परमाणुवाद तथा सांख्य के गुणवाद में कोई विरोध नहीं है, सांख्य नास्तिक दर्शन नहीं है बल्कि आस्तिक है, वेदान्त अद्वैतवादी दर्शन नहीं है बल्कि इस दर्शन में ब्रह्म व जीव का भेद कहा है और प्रकृति सर्वथा एक पृथक् पदार्थ है। हम देखते हैं कि स्वामी जी षड्दर्शनों को एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण से देखते हैं। वैदिक षड्दर्शनों में समन्वय को पुष्ट करना निःसन्देह बड़ा कठिन कार्य है जो गम्भीर विचार व गहरे अध्ययन की अपेक्षा रखता है। लेकिन इस विषय में

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, २२२।
२. संस्कृत साहित्य विमर्श, पृ० २५५, पं० त्रिलोकी नाथ शास्त्री।
३. "मीमांसादि छः वेदों के उपांग···इत्यादि सब ऋषि मुनि के किये ग्रन्थ हैं।" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ६६।

दयानन्द का दृष्टिकोण सर्वथा एक नवीन विचार है जो विद्वानों के लिये मनन का विषय है। यद्यपि प्राचीन काल में षड्दर्शनों में समन्वय की झलक प्रतीत होती है। परन्तु मध्य युग में वह धूमिल हो गई थी। आधुनिक काल में ऋषि दयानन्द ने इस विचारधारा को पुनः अनुप्राणित किया है। यह हम आगे देखेंगे कि इस दृष्टिकोण में पर्याप्त बल है, जिसे असिद्ध करना सरल काम नहीं है। षड्दर्शनों में आपसी विरोध नहीं है यह प्रवृति दयानन्द के बाद आज अनेक विद्वानों में भी पाई जाती है।[1]

दयानन्द षड्दर्शनों में एक समन्वयित दार्शनिक विचारधारा को मानते हैं। समन्वयित विचारधारा से उनका तात्पर्य अक्षरशः समानता से नहीं है। वैदिक दर्शन सत्य तक पहुँचने के लिये, विचार स्वतन्त्रता को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्त्व मानता है। दयानन्द का षड्दर्शनों में समन्वय से तात्पर्य है कि यह छओं दर्शन एक ही सत्य का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से वर्णन करते हैं। तात्त्विक दृष्टि से इनके मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों में आपस में कोई मतभेद नहीं है। प्रतीत होने वाला भेद केवल विषय की भिन्नता एवं वर्णन की भिन्न-भिन्न प्रणालियों के कारण है। प्रत्येक दर्शन का अपना अलग विषय व अलग प्रणाली है। इसमें हो सकता है कि दिखाई पड़ने वाला विरोध प्रणालीमात्र का विरोध हो जिसे विचार करने पर आसानी से दूर किया जा सकता है। दिखाई पड़ने वाले विरोध का का कारण भिन्न-भिन्न दर्शनों की अपनी-अपनी पृथक् शब्दावली भी हो सकती है। जैसे न्याय व वैशेषिक शास्त्र आत्मा शब्द से ही परमात्मा का ग्रहण करते हैं। यथा 'विभावान्महानाकाशस्तथा चात्मा।' वैशेषिक ७-१-२२। अर्थात् व्यापक होने से आकाश और परमात्मा महत् परिणामयुक्त

---

१. (i) The Sacred book of Hindus, Vol. VI Vaishasik Sutra; Introduction P. VIII, Edited by Major Vasu.
(ii) संस्कृत साहित्य विमर्श, पं० द्विजेन्द्र नाथ शास्त्री, पृ० २५६।
(iii) पातंजल योग प्रदीप, ले० ओमानन्द तीर्थ, पृ० १०।
(iv) Max Muller refers Vijyan Bhiksu. Indian Philosophy Vol. I P. 80 Six Systems.

हैं। यहां पर आत्मा शब्द परमात्मा के लिये आया है, जिसे जीव के लिये भी प्रयुक्त किया जा सकता है। इसी प्रकार सांख्य पुरुष शब्द से जीव व ब्रह्म दोनों का ग्रहण करता है। लेकिन यदि सब स्थानों पर प्रकरण को देखे बिना न्याय-वैशेषिक के आत्मा शब्द का तथा सांख्य के पुरुष शब्द का सब स्थानों में जीवात्मा में प्रयोग करें तब ये तीनों शास्त्र नास्तिक शास्त्र दिखाई पड़ने लगते है।[1] दयानन्द कहते हैं कि "वैशेषिक और न्याय भी आत्मा शब्द से अनीश्वर-वादी नहीं, क्योंकि सर्वत्रत्वादि धर्मयुक्त और 'अतति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा' जो सर्वत्र व्यापक और सर्वज्ञादि धर्मयुक्त सब जीवों का आत्मा है उसको मीमांसा, वैशेषिक और न्याय ईश्वर मानते हैं" (सत्यार्थप्रकाश पृ० १८८)। और इस प्रकार शब्दावली के इस रहस्य को न समझने पर ही विद्वानों को इन शास्त्रों का वेदान्त व योग से विरोध दिखाई पड़ता है। परन्तु दयानन्द की उपरोक्त विधि से शास्त्रों को सावधानीपूर्वक पढ़ने पर छहों शास्त्रों में समान सिद्धान्तों का पता चल जाता है।

शास्त्रों में साधारण विरोध, जो कि मूलभूत सिद्धान्तों पर प्रभाव नहीं डालते, माने जा सकते हैं। उदाहरण के रूप में वेदान्त में इस विषय पर कि मुक्ति में मन का आत्मा से संग रहता है या नहीं, बादरायण अपने से अतिरिक्त अन्य आचार्यों बादरि व जैमिनी के परस्पर विरुद्ध मतों का हवाला देते हैं। परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि बादरि व जैमिनी में विरोध था और इनमें से एक भ्रान्त था क्योंकि अगले ही सूत्र में बादरायण कहते हैं कि हम दोनों को ही ठीक मानते हैं।[2] इसी प्रकार सांख्यों के गुणवाद व वैशेषिक के गुण में भेद हैं जिससे विचारक इनमें विरोध ढूंढते हैं परन्तु यह तो स्वयं सांख्य शास्त्र कह रहा है कि इस शास्त्र में वैशेषिकों के समान पदार्थ-भेद नहीं किया है।[3] अतः सांख्य के गुणों को वैशेषिक के गुण की परिभाषा की दृष्टि से समझना हमारी दृष्टि में भूल होगी।

---

१. शंकराचार्य वेदान्त सूत्रों के भाष्य में सांख्य के साथ-साथ वैशेषिक व न्याय को भी नास्तिक दर्शन मानते हैं। देखिये वेदान्त २-२-१२, शंकराचार्य।

२. वेदान्त सूत्र, ४-४-१०, ११ व १४।

३. देखिये, सांख्य सूत्र, ६-३८ व ३९ तथा इन पर तुलसीराम स्वामी का भाष्य।

स्वामी दयानन्द छहों वैदिक दर्शनों में मौलिक समन्वय को देखते हैं उसके समन्वय का मुख्य आधार त्रैतवाद है। उनका कहना है कि षड्वैदिक दर्शन ईश्वर (ब्रह्म) जीव व प्रकृति को अनादि मानते हैं। फिर इनमें यदि इस बात पर मतभेद हो कि प्रमाण कितने हैं, अभाव भी एक पदार्थ है या नहीं अथवा मुक्ति के लिये कौन-सा मार्ग उत्तम है ज्ञान का, कर्म का या उपासना का अथवा तीनों के समन्वय का, इससे उनकी एकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह तो वैदिक धर्म में विचार स्वातन्त्र्य का परिणाम है कि ऋषि स्वतन्त्रतापूर्वक सिद्धान्तों का निरीक्षण करता है और उनको सत्य पाने पर सम्पादन करता है। यह तो उनकी सत्यता है कि जो भी वे सत्य पाते थे निर्भय होकर कह देते थे। इसमें भेद व आपसी विरोध की बात नहीं है, वरन् उनका आदि स्रोत एक (वेद) है, विचार प्रक्रिया समान है तथा मूलभूत सिद्धान्त एक हैं। श्री नन्दलाल सिन्हा इन दर्शनों में विरोध देखने वालों को उत्तर देते हुए, मैक्समूलर के हवाले से, विज्ञान भिक्षु के इस विचार को लिखते हैं कि ये दर्शन एक समान स्रोत से निकले है।[1]

उपरोक्त विवेचन से यही प्रतीत होता है कि वैदिक षड्दर्शनों के विषय में मध्यकाल के पश्चात् स्वामी दयानन्द का समन्वयात्मक दृष्टिकोण दर्शन शास्त्र में एक नवीन विचारधारा है। इसकी पूर्ण पुष्टि के लिये गम्भीर अध्ययन व काफी खोज की आवश्यकता है। लेकिन प्रतीत यह होता है कि स्वामी जी के विचारों में तथ्य है। आर्यमुनि व तुलसीराम स्वामी प्रभृति विद्वानों ने छहों दर्शनों पर भाष्य लिखे हैं, जिनमें उनका दृष्टिकोण स्वामी दयानन्द के अनुकूल

1. And to those who think that these systems are at daggers drawn with one another, the reply may be given once for all in the felicitious language of Max Muller, "The longer I have studied the various systems ··· that there is behind the variety of the six systems a common fund·····.
(Introduction P, VIII of the Sacred books of Hindu Series Vaisheshika Sutras, Vol. VI).

है। इसके अलावा श्री ओमानन्द तीर्थ ने पातंजल-योग-प्रदीप व द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री ने संस्कृत साहित्य विमर्श नामी अपने ग्रन्थों में भी षड्दर्शन समन्वय दिखाने की चेष्टा की है। इन विद्वानों पर स्वामी दयानन्द का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है।

षड्दर्शन में प्रकृति

दयानन्द का समन्वयात्मक दृष्टिकोण

सत्कार्यवाद व असत्कार्यवाद—सांख्य दर्शन का विचार है कि संसार की सारी वस्तुओं का कोई न कोई कारण अवश्य है और उस कारण का भी कोई कारण होगा, इस प्रकार कार्य से कारण की खोज करते हुए हमें एक ऐसे तत्त्व को मानना पड़ता है कि जो सब पदार्थों का आदि कारण है परन्तु किसी का कार्य नहीं। इसी तत्त्व को सांख्यों ने प्रकृति कहा है तथा संसार के समस्त जड़ पदार्थ इसी के विकार हैं। इसके अतिरिक्त उनका यह भी कहना है कारण में कार्य अव्यक्तावस्था में विद्यमान रहता है। यही व्यक्त होने पर कार्य कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि सांख्यों के अनुसार कार्य किसी पूर्ववर्ती शून्य से उत्पन्न नहीं होता वरन् अपने कारण में शक्तिरूप से पहले से ही विद्यमान रहता है, जिसका विकास वा व्यक्त होना कार्य कहा जाता है। सांख्य दर्शन में इस सिद्धांत को सत्कार्यवाद की संज्ञा दी गई है। सांख्यों का सारा दर्शन इसी सिद्धान्त पर आधारित है। इसी से उन्होंने प्रकृति के अनादित्व का प्रतिपादन किया है कि समस्त जड़ पदार्थों का कोई न कोई आदि कारण अवश्य है जिसमें ये सृष्टि से पूर्व ही अव्यक्तावस्था में विद्यमान थे। यह तत्त्व सांख्यों के मत में (जड़-सृष्टि पक्ष में) प्रकृति है। हम देखते हैं कि सत्कार्यवाद के नियम से प्रकृति अनादि तत्त्व सिद्ध होता है। सांख्यों का यह मत उपनिषदों में अनेक स्थलों पर यथावत् विद्यमान मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद् कहता है 'हे श्वेतकेतो ! अन्नरूप पृथ्वी कार्य से जलरूप मूल कारण को तू जान। कार्यरूप जल से तेजोरूप मूल और तेजोरूप कार्य से सदूप कारण जो नित्य प्रकृति है उसको जान। यही सत्य स्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूल घर और स्थिति स्थान है।"[1]

---

१. '(एकमेव खलु) सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छा··· सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।' छा० उ०, ६-८-४।

(इस मन्त्र पर स्वामी दयानन्द के विचार, देखिये स० प्रकाश, पृ० २११)

न्याय-वैशेषिक भी प्रकृति की सत्ता को मानते है परन्तु वे सांख्यों की तरह सत्कार्यवाद के सिद्धांत को नहीं मानते बल्कि असत्कार्यवाद के पोषक है। असत्कार्यवाद के अनुसार कारण में कार्य पूर्व ही विद्यमान नहीं होता वरन् बीज का उपमर्दन कर एक नये पदार्थ अंकुर की उत्पत्ति होती है, अर्थात् एक नया पदार्थ पैदा होता है जो पहले न था। सत्कार्यवाद के विरुद्ध कुछ भाष्यकारों का तर्क है कि यदि बीज में अंकुर पहले ही विद्यमान होता तब उसकी उत्पत्ति कहना व्यर्थ है, क्योंकि उत्पत्ति से पूर्व जो पदार्थ नहीं होते उन्हीं की उत्पत्ति कही व सुनी जाती है अतः बीज में अंकुर उत्पत्ति से पूर्व नहीं होता। नैयायिकों के इस तर्क पर सांख्य भाष्यकार उत्तर देते हैं कि हम उत्पत्ति से पूर्व कारण में कार्य की विद्यमानता अव्यक्तावस्था में मानते हैं। इनके मत में उत्पत्ति का अर्थ होता है जो अव्यक्त था उसका व्यक्त होना। सांख्य विद्वानों का आगे कहना है कि यदि कार्य को पूर्व ही अपने कारण में शक्तिरूप में विद्यमान न माना जायेगा तो अभाव से भाव की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। इससे स्वयं नैयायिकों का प्रकृति व उपादान कारण का सिद्धान्त खतरे में पड़ जायेगा। क्योंकि यदि अभाव से भाव को उत्पत्ति मानी जाये तो उपादान कारण की क्या आवश्यकता है, क्योंकि शून्य से सब पदार्थों की उत्पत्ति मान ली जा सकती है।

इस स्थल पर हमें इन शास्त्रों के भाष्यकारों व टीकाकारों के आपसी विवाद में नहीं पड़ना है, क्योंकि इस विवाद में फंसकर हम सूत्रों के वास्तविक अभिप्राय से दूर हट जायेंगे। सत्कार्यवाद व असत्कार्यवाद का यह आपसी विवाद सदियों पुराना प्रतीत होता है। परन्तु दयानन्द का दृष्टिकोण इस विवाद के विपरीत है। उनके अनुसार इन शास्त्रों में कोई विरोध नहीं है। ऐसा हो सकता है कि इन शास्त्रों के रचयिता ऋषियों ने इस प्रकार के विवाद की कल्पना भी न की हो और यह विवाद विद्वानों की मानसिक कसरत मात्र हो। अतः वास्तविकता तक पहुँचने के लिये हमें यह उचित ही प्रतीत होता है कि इस विषय पर मूल ग्रन्थों की शरण ली जाय और दयानन्द की यही मौलिकता है कि वे सिद्धांत निर्णय के लिये सीधे मूल ग्रन्थ की शरण लेते हैं तथा उस पर रचे भाष्य टीका आदियों पर विचार नहीं करते, क्योंकि उनके विचार में टीकाकार निर्भ्रान्त नहीं हैं।

न्याय शास्त्र में सूत्र आता है 'अभावाद् भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' (न्याय० ४-१-१४) अर्थात् '(बीज का) नाश हुए बिना (अंकुर की) उत्पत्ति न होने से अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है।' इस सूत्र से सूत्रकार स्पष्ट असत्-कार्यवाद का प्रतिपादन करते दिखाई देते हैं। परन्तु स्वामी दयानन्द इस सूत्र को न्याय शास्त्र में पूर्वपक्षी का सूत्र बताते हैं और इसके उत्तर में कहते हैं, 'जो बीज का उपमर्दन करता है वह प्रथम ही बीज में था जो न होता तो उत्पन्न कभी न होता'।[1] इससे यह पता चलता है कि उपरोक्त सूत्र से स्वामी दयानन्द न्याय में असत्कार्यवाद को उस रूप में नहीं मानते जिस रूप में अन्य विद्वान मानते हैं। इस पर यह कहा जा सकता है कि यहां दयानन्द सूत्र को अपने पक्ष-पोषण के लिए पूर्वपक्षी का प्रश्न बता रहे हैं। इसके उत्तर में हमारा कहना है कि ऐसा नहीं है, क्योंकि यह विचार केवल स्वामी दयानन्द का ही नहीं वरन् न्याय-शास्त्र के प्रामाणिक व प्रसिद्ध भाष्यकार वात्स्यायन मुनि भी इसे पूर्वपक्षी का ही सूत्र मानते हैं। श्री गंगानाथ झा, स्वामी तुलसीराम तथा संस्कृत कालिज कलकत्ता के प्रिंसिपल महामहोपध्याय सतीश चन्द्र विद्याभूषण का भी यही विचार है।[2] यही नहीं परन्तु स्वयं न्यायशास्त्र अभाव से भाव की उत्पत्ति को असंगत मानता हुआ उपरोक्त सूत्र के उत्तर में अगले ही सूत्र में कहता है 'व्याघातात् प्रयोग।' न्याय ४-१-१५। अर्थात् 'The reasoning put forward is unsound, as it involves self contradiction." (Vatsyayan Bhasya, Translated by Ganga Nath Jha) इसी सूत्र का अर्थ सतीश चन्द्र विद्याभूषण इस प्रकार करते हैं—"It is we reply, not so, because

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २१६।

2. (i) See-Gautam's Nyaya Sutras 4-1-14 (In the Vatsyayan Bhasya) by Ganga Nath Jha.
(ii) Sutra 4-1-14 Translated by Mahmahopadhyaya Satish Chandra Vidhyabhushan, The Sacred Book of Hindus. Voi. VIII, Nyaya Satras of Gautam.

such an expression inconsistent as it is connot be employed."[1] इससे यही प्रतीत होता है कि न्यायशास्त्र अभाव से भाव की उत्पत्ति के सिद्धांत को नहीं मानता। एक अन्य स्थल पर न्याय शास्त्र अवयवों में अवयवी की विद्यमानता को स्वीकार करता है।[2] हमारे इस विचार को डा० राधाकृष्णन से भी बल मिलता है जहां वह कहते हैं कि 'नैयायिक यह तो मानता है कि पूर्व (द्रव्य पदार्थ) के पूर्ण विनाश से नवीन पदार्थ की उत्पत्ति असम्भव है परन्तु इसे खुलकर कहने को तैयार नहीं होता। इससे यही मालूम पड़ता है कि न्यायशास्त्र के अनुसार द्रव्य अपनी पूर्वावस्था का परित्याग मात्र करता है।[3] इस प्रकार स्वयं न्यायसूत्रों व अनेक विद्वानों द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि न्याय-दर्शन का असत्कार्यवाद से यह तात्पर्य नहीं है कि कार्य सर्वथा एक नवीन वस्तु है तथा उत्पत्ति से पूर्व कारण में उसका सर्वथा अभाव था।

वैशेषिक दर्शन न्यायशास्त्र का समानतन्त्र है अतः अभाव से भाव की उत्पत्ति के रूप में असत्कार्यवाद का आरोप उस शास्त्र में भी लगाया जाता है। आरोपकर्त्ता वैशेषिक दर्शन के सूत्र **'क्रियागुणव्यपदेशाऽभावात् प्रागऽसत्'**।[4] का अर्थ करते हुए कहता है कि क्रिया व गुण का अभाव पाये जाने से (कार्य का उत्पत्ति से पूर्व) अभाव था। इससे एक बार फिर यह संशय हो जाता है कि कहीं वैशेषिक असत्कार्यवाद (अभाव से भाव की उत्पत्ति) का प्रतिपादन तो नहीं कर रहा। परन्तु वैशेषिक के अन्य सिद्धांतों व उसकी मूल भावना तथा सूत्रों को

---

1. Idid-4-1-15.

२. **'तदाश्रयत्वादऽपृथग्ग्रहणम्'**। न्याय सू० ४-२-२८।

3. The Naiyayika concedes that a complete destruction of the previous substances will make the formation of the new impossible. It follows that the substance only relinquishes its former condition though the Naiyayaka is not inclined to accept it openly." Indian Philosophy, Vol. 2, P. 97,

—Dr. S. Radha Krishnan.

४. वैशेषिक सूत्र ९–१–१।

पूर्वापर संदर्भ से देखने पर इसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इस स्थल पर, क्रिया व गुण के अभाव में कार्य का अपने कारण में अभाव मानने से, वैशेषिक का तात्पर्य यह है कि जब वस्तु की उत्पत्ति ही नहीं हुई तब उसके कार्य व गुणों का अभाव होगा। यहाँ पर शास्त्रकार यह स्पष्ट कह रहे हैं कि पृथिवी आदि द्रव्य उत्पत्ति से पूर्व असत् थे क्योंकि उस समय पृथिवी आदि द्रव्यों के कार्यों व गुणों का अभाव था। उदाहरणार्थ घट से पूर्व घट के क्रिया व गुण नहीं थे परन्तु मृत्तिका थी, मृत्तिका के क्रिया व गुण थे। मृत्तिका से घट की उत्पत्ति हुई अर्थात् मृत्तिका का नाम-रूप बदलने पर घट नाम का नया पदार्थ बना जो वास्तव में मृत्तिका का ही विकार है। अतः घट मृत्तिका में था ही परन्तु व्यक्त होने से नया बना माना गया और घटरूप से उनकी प्रसिद्धि हुई। कारण में कार्य समवाय रूप से है ऐसा वैशेषिक भी मानता है।[1]

उपरोक्त विवेचन से यही प्रतीत होता है कि असत्कार्यवाद में भी कारण से ही कार्य की उत्पत्ति मानी गई है, बिना कारण के नहीं। परन्तु न्याय-वैशेषिक द्वारा कार्य का कारण में असत् कहने का तात्पर्य कारणावस्था में कायरूप का अभाव होने से है। न्याय मंजरी का रचयिता कहता है कि हम (नैयायिक) यह नहीं मानते कि कोई भी वस्तु, जिसका अभाव है, पैदा हो जायेगी बल्कि हमारा कहना है कि जो पैदा होता है उसका अभाव था,[2] अर्थात् उस रूप में उसका अभाव था। इससे सत्कार्यवाद व असत्कार्यवाद में विरोध नहीं उत्पन्न होता बल्कि यह तो अपने-अपने प्रतिपादन की प्रणाली है। दोनों ही कारण से कार्य की उत्पत्ति मानते हैं तथा कारण के अभाव में कार्य का अभाव मानते हैं।[3] और यह भी मानते हैं कि कारण के गुण कार्य के गुण में आ जाते हैं।[4]

---

१. 'कारणमिति द्रव्ये, कार्य समवायात्'। वैशेषिक सूत्र १०-२-१।

२. A History of Indian Philosophy ;
S, N. Dass Gupta, V. I. p. 320.

३. 'कारणाऽभावात् कार्याऽभावः।' वैशेषिक सूत्र १-२-१।

४. 'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः।' वैशेषिक सूत्र २-१-२४।

दोनों ही शास्त्र प्रकृति तत्त्व को अनादि कारण मानते हैं। इस प्रकार इस विवेचन के निष्कर्षस्वरूप हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सत्कार्यवाद व असत्कार्यवाद में कोई विरोध नहीं है और स्वामी दयानन्द इस विषय में युक्ति-युक्त ही प्रतीत होते हैं।

वैशेषिक का परमाणुवाद तथा सांख्यों का गुणवाद—वैशेषिक परमाणु-वादी हैं तथा साँख्य गुणवादी हैं। वैशेषिक यह मानते हैं कि परमाणु प्रकृति का सूक्ष्मतम अंश है, इसका आगे विभाग सम्भव नहीं है। प्रत्येक तत्त्व के पृथक-पृथक परमाणु होते हैं जो आपस में न्यूनाधिक मिलकर अन्य पदार्थों की उत्पत्ति करते हैं। यही परमाणु आपस में संयोग कर द्वयणुक व त्रसरेणु बनाते हैं जिनसे महत् पदार्थों की उत्पत्ति होती है। न्याय-वैशेषिक ने प्रकृति में परमाणु की सूक्ष्मता तक ही विचार किया तथा समस्त जगत में परमाणुओं की ही कला का उन्होंने दर्शन भी किया। पश्चिमी आधिभौतिक शास्त्रियों में डाल्टन ने जो परमाणुवाद की विचारधारा रखी वह बहुत हद तक वैशेषिक शास्त्र से मिलती है।

लेकिन सांख्य, प्रकृति के स्वरूप का वर्णन तीन गुणों सत्व, रज व तम के रूप में करता है। इनका कहना है कि प्रकृति सत्व, रज व तम की बनी है। अव्यक्तावस्था में प्रकृति के यह तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं। साम्यावस्था भंग होने पर ये तीनों गुण न्यूनाधिक अवस्था में होते हुये समस्त सृष्टि का निर्माण करते हैं। इसे सांख्य ने प्रकृति की व्यक्तावस्था अथवा विकार कहा है। इस मत का न्याय-वैशेषिक के परमाणुवाद से स्पष्ट विरोध प्रतीत होता है। परन्तु समन्वय की प्रवृत्ति के लिये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इनके विरोध को दूर करें।

स्वामी दयानन्द समन्वयवादी हैं। उनकी दृष्टि में वैशेषिक के परमाणुवाद व सांख्य के प्रकृति (गुणवाद) के सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं है। दयानन्द के विचारानुसार वैदिक-षड्दर्शन सृष्टि उत्पत्ति के छः भिन्न-भिन्न पहलुओं पर अलग-अलग विचार करते हैं, जैसे मीमांसा शास्त्र सृष्टि उत्पत्ति में कर्म-चेष्टा का, वैशेषिक में काल का, न्याय में उपादान कारण का, साँख्य में तत्त्वों

के मेल का तथा वेदान्त में सृष्टि बनाने वाले अर्थात् ब्रह्म का विचार किया गया है।[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द वैशेषिक के परमाणुवाद तथा सांख्य के गुणवाद में विरोध नहीं मानते। अतः अब हम यह देखेंगे कि स्वामी दयानन्द का यह विचार इन दोनों शास्त्रों में किस प्रकार मिलता है।

स्वामी दयानन्द के विचार से यह प्रतीत होता है कि वे सांख्यों की सत्व, रज व तम की साम्यवस्था रूप प्रकृति को नैयायिकों के परमाणुओं से अधिक सूक्ष्म मानते थे। जब प्रकृति की साम्यावस्था भंग हो जाती है तब अवयव रूप परम सूक्ष्म पृथक-पृथक तत्त्व परमाणु उत्पन्न होते हैं। स्वामी जी कहते हैं "अनादि नित्य स्वरूप सत्व, रजस और तमोगुणों की एकावस्था रूप प्रकृति से उत्पन्न जो परमसूक्ष्म पृथक-पृथक तत्वावयव (संस्कृत में तत्त्व परमाणूनां शब्द आया है जिसमें परमाणु शब्द स्पष्ट है अतः हिन्दी में भी अवयव का अर्थ परमाणु ही लेना चाहिए) विद्यमान हैं उन्हीं का प्रथम ही जो संयोग का आरम्भ है, संयोग विशेषों से अवस्थान्तर दूसरी अवस्था को सूक्ष्म स्थूल-स्थूल बनते बनाते विचित्र रूप बनी है इसी से यह संसर्ग (संयोग) होने से सृष्टि कहलाती है।"[2] अर्थात् सर्वप्रथम सत्व, रज व तमोगुण की साम्यावस्था थी यह सांख्यों की प्रकृति है। इसमें जब क्षोभ उत्पन्न हुआ उससे विकार आरम्भ हुआ। प्रकृति का सबसे पहला विकार महत् था जिसे विश्वबुद्धि या प्रकृति में सर्वत्र व्यापक विश्वान्तकरण कह सकते हैं। तत्पश्चात् अहंकार की उत्पत्ति हुई।

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २२२-२२३।

२. 'नित्यायाः सत्वरजस्तमसां साम्यावस्थायाः प्रकृतेरुत्पन्नानां पृथक्वर्तमानानां तत्त्व परमाणूनां प्रथमः संयोगारम्भः संयोग विशेषावस्थान्तरस्य स्थूलाकार प्राप्तिः सृष्टिरुच्यते'। (सत्यार्थप्रकाश पृ० २२३) यह वाक्य स्वामी जी ने किस ग्रंथ से लिया है इसका हवाला सत्यार्थप्रकाश में नहीं दिया है। यदि हम इसे स्वामी जी का अपना ही मान लें तब भी कोई आपत्ति नहीं आती। हाँ यदि परिश्रम करने पर उस ग्रंथ का पता चल गया जिसका यह पद है तब यह और भी पुष्ट हो जायेगा कि प्राचीन भाष्यकार व विद्वान् वैशेषिक के परमाणु व सांख्य के गुणों में विरोध नहीं मानते थे।

अहंकार प्रकृति का दूसरा विकार है। अहंकार से प्रकृति में पृथकता का भाव उत्पन्न हुआ। श्री लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक इसी अवस्था में परमाणुओं की उत्पत्ति मानते हैं।[1] लेकिन दास गुप्ता परमाणुओं की उत्पत्ति तन्मात्राओं के पश्चात् मानते हैं।[2] यहाँ पर यह विवाद हमारे लिए मुख्य नहीं है कि परमाणु किस अवस्था में उत्पन्न हुये। तात्पर्य केवल यह है सर्वप्रथम सत्व, रज व तम की प्रकृति थी पश्चात् तन्मात्राओं से पहले अथवा तन्मात्राओं के रूप में परमाणु उत्पन्न हुए। परमाणुओं की उत्पत्ति के पश्चात् की सृष्टि-उत्पत्ति सांख्यों ने लगभग न्याय-वैशेषिक के अनुसार मानी है। इससे यही प्रतीत होता है कि इस विषय में सांख्यकार ने न्याय से अधिक सूक्ष्म विचार किया है। न्याय-वैशेषिक प्रकृति की परमाणु की अवस्था तक रहे जबकि सांख्य प्रकृति की उससे भी सूक्ष्म अवस्था सत्व, रज व तम तक पहुंच गया। इससे इनका आपस में विरोध नहीं है। विरोध तो एक ही विषय पर दो विरोधी मत होने से होता है, लेकिन यहाँ पर विषय की स्थूलता व सूक्ष्मता का प्रश्न है। इस विषय पर स्वामी ओमानन्द भी स्वामी दयानन्द की ही पुष्टि करते हैं। वह कहते हैं 'जहाँ से न्याय-वैशेषिक ने स्थूल सृष्टि का क्रम दिखाया है वहीं से सांख्य मूल जड़तत्व की खोज में सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम सृष्टि के क्रम की ओर गया है। जिस जड़तत्त्व के अन्तर्गत विभु और अणु दोनों प्रकार के जड़ पदार्थ हैं वह सबसे प्रथम जड़तत्त्व तीन गुण हैं सत्य, रजस और तमस।"[3] इस विषय में स्वयं सांख्यकार का मत भी यही है कि परमाणु वाद में गुणों से उत्पन्न होते हैं। '**नाणु नित्यता तत्कार्यत्वश्रुते**'। सां० सू० ५-८७। अर्थात् अणु नित्य नहीं है क्योंकि उसका कार्यत्व श्रुति में कहा गया है।

कुछ आर्य विद्वानों का कहना है कि गुण अपने गुणों से पृथक नहीं रह

---

१. गीता रहस्य पृ० १७५।

२. The five classes of atoms are generated from the tanmatras as follows...". History of India Phil. V. I. p. 252. S. N. Dass Gupta.

३. पातंजल योग प्रदीप, पृ० ६८, ओमानन्द तीर्थ

सकते अतः सत्व, रजस व तमस इन तीनों गुणों का आधार होना चाहिये और वह परमाणु तीन प्रकार के हैं, कुछ सतोगुणी जो हल्के व प्रकाशयुक्त हैं, कुछ रजोगुणी जो क्रियाशील हैं तथा कुछ तमोगुणी जो अत्यन्त भारी व गति-रहित हैं। इन विद्वानों का यह मत विभ्रांतिपूर्ण है क्योंकि सांख्य स्वयं कह रहा है ('नाणु नित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः'। सांख्य सू० ६-३७) अर्थात् अणु नित्य नहीं है क्योंकि यह कार्य है ऐसा श्रुति कहती हैं। सांख्य शास्त्र में पदार्थों का विभाजन वैशेषिक के अनुसार नहीं किया गया।[1] अतएव वैशेषिक के गुण के समान सांख्य के सत्वादि गुण नहीं समझने चाहियें। वैशेषिक में गुण शब्द का ग्रहण गुण-गुणी के अर्थ में किया है जबकि सांख्य गुणों को स्वयं प्रकृति मानता है। जैसा कि सांख्य शास्त्र स्पष्ट कह रहा है कि "सत्वादि धर्म नहीं है तद्रूप होने से"[2], अर्थात् सत्वादि स्वयं प्रकृति हैं न कि किसी के धर्म। सांख्य सूत्रों के प्रसिद्ध भाष्यकार विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि सत्वादि द्रव्य हैं वैशेषिक के गुण नहीं, क्योंकि संयोग-विभाग-युक्त हैं।[3] इसलिए सांख्य के गुण परमाणुओं के धर्म नहीं बल्कि परमाणुओं के आदि कारण हैं।

अब यदि परमाणुओं को स्वामी दयानन्द के अनुसार कार्य माना जाय तब यह प्रश्न उठता है कि परमाणुओं की अवस्था को प्रकृति नाम कैसे दिया गया जबकि प्रकृति तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम है। हम समझते हैं कि द्रव्य की परमाणुओं की अवस्था भी प्रकृति कही जा सकती है, क्योंकि उस अवस्था से ही जगत के स्थूलाकार का निर्माण होता है, इससे वह संसारोत्पत्ति में कारण है। सांख्य ने प्रकृति से विकृति तक तीन विभाग किये हैं। (१) प्रकृति—तीनों गुणों की साम्यावस्था, (२) प्रकृति-विकृति—इसमें महतत्व, अहंकार व पंचतन्मात्रायें आती हैं (३) विकृति—मन सहित ग्यारह इन्द्रियां व पंच महा-

१. सां० सू० ६-३८ इस पर तुलसीराम भाष्य।

२. सांख्य सूत्र ६-३९।

३. 'सत्त्वादीनि द्रव्याणि, न वैशेषिका गुणाः, संयोग विभागत्वात्'। विज्ञान भिक्षु। तुलसीराम द्वारा अपने सांख्य दर्शन पर भाष्य में उद्धृत, पृ० २८।

भूत ।[1] अब यदि परमाणुओं को तन्मात्राओं की अवस्था में भी उत्पन्न मानें तब भी वह प्रकृति-विकृति अवस्था में आ जाते हैं। जिससे उस अवस्था को प्रकृति कहा जा सकता है। इससे न्याय-वैशेषिकों का द्रव्य की परमाणु की अवस्था को प्रकृति कहना कोई अनुचित नहीं प्रतीत होता।

उपरोक्त विवेचन में स्वामी दयानन्द का यह विचार कि परमाणु गुणों के कार्य हैं और गुण प्रकृति की अत्यन्त सूक्ष्मावस्था है, काफी प्रबल प्रतीत होता है। और इस प्रकार इन दो शास्त्रों का प्रकृति का क्या स्वरूप है, इस विषय पर मतभेद प्रायः समाप्त हो जाता है।

ब्रह्मसूत्रों (वेदान्त दर्शन) में प्रकृति की विद्यमानता—षड्-वैदिक दर्शनों में वेदान्त दर्शन का अपना महत्व है। इसमें विशेष रूप से ब्रह्म का वर्णन पाया जाता है। कतिपय वैदिक दार्शनिकों का यह विचार है कि वेदान्त अद्वैतवादी दर्शन है तथा इसमें प्रकृति की सत्ता को ब्रह्म से पृथक नहीं माना गया है। इससे इसमें विद्वान शंकर के मायावाद का ही दर्शन करते हैं। शंकराचार्य जी के मतानुसार ब्रह्मसूत्र प्रकृति को ब्रह्म की मायारूपी शक्ति मानते हैं। अतः अद्वैतवाद, ब्रह्मसूत्रों में, जगत् के मिथ्यात्व का ही प्रतिपादन करता है। दूसरी ओर रामानुजाचार्य जी इसी दर्शन में विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन करते हैं। रामानुज संसार की यथार्थता तो स्वीकार करते हैं परन्तु प्रकृति को ब्रह्म का ही भाग मानते हैं। रामानुज ब्रह्म में प्रकृति को स्वगत भेद के अनुसार मानते हैं, अर्थात् इनके मत में, वास्तव में, प्रकृति ब्रह्म का ही अंश है।

वेदान्त में प्रकृति की विद्यमानता पर स्वामी दयानन्द के विचार उपरोक्त दोनों विद्वानों से भिन्न हैं। वे ब्रह्मसूत्रों में प्रकृति को ब्रह्म से पृथक अनादि तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं।[2] स्वामी दयानन्द से पहिले भी ब्रह्मसूत्र को यथार्थवादी मानने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। ब्रह्मसूत्र के प्रतिष्ठित प्राचीन

---

१. 'मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति विकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः', ।। सा० कारिका—३।

२. 'सृष्टि का···निमित्त कारण जो परमेश्वर है उसकी व्याख्या वेदान्त शास्त्र में है।' सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ६८।

भाष्यकारों में महर्षि बोधायन का भाष्य यथार्थवादी भाष्य था। स्वामी दयानन्द ने बोधायन मुनि द्वारा रचित वेदान्त भाष्य को प्रामाणिक माना है।[1] अतः यह भाष्य निश्चयपूर्वक ही ब्रह्मसूत्र का यथार्थवादी भाष्य रहा होगा।[2]

महर्षि दयानन्द ने ब्रह्मसूत्र पर कोई विधिवत् भाष्य नहीं लिखा है। परन्तु उनका यह मत उनके द्वारा स्थल-स्थल पर ब्रह्मसूत्रों के प्रमाण देने से प्राप्त होता है। इसलिये दयानन्द के मत की पुष्टि के लिए हम सीधे ब्रह्मसूत्रों पर ही विचार करेंगे।

वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) को मूलरूप में देखने पर पता चलता है कि यह शास्त्र संसार को मायारूप नहीं मानता। वरन् इसमें तो संसार को स्वप्नवत् मानने वालों के मत का खण्डन किया गया है। महर्षि बादरायण एक स्थल पर जाग्रत के पदार्थों की स्वप्न के पदार्थों से तुलना करते हुए कहते हैं कि जाग्रत स्वप्न के समान मिथ्या नहीं हो सकता क्योंकि स्वप्न के पदार्थों में और जाग्रत के पदार्थों में वैधर्म्यता है[1] अर्थात् स्वप्न के पदार्थों का जागरण काल में अभाव पाया जाता है परन्तु जाग्रत की उपलब्धि नष्ट नहीं होती। वह अवस्थान्तर व कालान्तर में बनी ही रहती है। अतः जागरण के पदार्थों का स्वप्न से दृष्टान्त देना सर्वथा असंगत है। एक अन्य सूत्र में सूत्रकार, स्वप्नावस्था में पदार्थों का स्वरूप स्पष्ट न होने के कारण, इसे मायामात्र मानता है।[1] उपरोक्त दो प्रसंगों से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मसूत्र के रचियता जाग्रत के संसार को न तो

---

१. प्रयत्न करने पर भी बोधायन मुनि का ब्रह्मसूत्र पर भाष्य नहीं मिल सका। परन्तु इस पर सन्देह नहीं किया जा सकता कि बोधायन मुनि ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा है, क्योंकि बोधायन मुनि को ब्रह्मसूत्र—भाष्यकार के रूप में, रामानुज ने अपने वेदान्त दर्शन पर श्री भाष्य की भूमिका में, स्मरण किया है. 'भागवद् बोधायनम् कृतम् विस्तीर्णं ब्रह्मसूत्र वृत्तिं पूर्वाचार्यः।

२. 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्'। वे० सू०, २–२–२९।

३. 'मायामात्रं तु कात्स्न्येनाऽनभिव्यक्त स्वरूपत्वात्।' वे० सु०, ३-२-३।

स्वप्न के समान मानते हैं और न मायामात्र। ब्रह्मसूत्र में प्रकृति को जगत् का का उपादान कारण कहा गया है। **'पटवच्च'** (सू० २—१—१९) इस सूत्र में शास्त्रकार संसार को बनने से पहिले अपने कारणरूप प्रकृति मे वर्तमान मानता है। जिस प्रकार कपड़ा लिपटा हुआ हो तथा खोलने पर फैल जाता है उसी प्रकार उत्पत्ति से पूर्व संसार अपने मूल कारण प्रकृति में लीन रहता है, उत्पत्ति अवस्था में व्यक्त हो जाता है। यहाँ पर **वेदान्त दर्शन सांख्यों के सत्कार्यवाद के अनुसार ही परिणामवाद का प्रतिपादन कर रहा है।** इसके अतिरिक्त वेदान्त ब्रह्म को जगत् का निमित कारण मानता है। शास्त्र कहता है कि '(प्रकृति) परमात्मा के आधीन होने से ही सार्थक है' **तदधीनत्वादर्थवत्**। (वे. सू. १-४-३) अर्थात् प्रकृति अव्यक्तावस्था में परमेश्वर के आधीन रहती है तथा व्यक्तावस्था में भी उसके निर्देशन में कार्य करती है तभी प्रकृति की सार्थकता है अन्यथा नहीं। इससे प्रतीत होता है कि शास्त्रकार प्रागवस्था में भी प्रकृति की सत्ता को मानता है, सर्वथा अभाव नहीं। शंकराचार्य जी ने भी इस सूत्र के भाष्य में प्रागवस्था में प्रकृति की विद्यमानता को स्वीकार किया है तथा कहा है कि प्रागवस्था में प्रकृति को न मानने पर परमात्मा का जगत्कर्त्ता होना असिद्ध हो जायेगा, अतः प्रागवस्था में प्रकृति परमेश्वर के आधीन थी।[1] परन्तु शंकराचार्य जी यहां पर सत्ता भेद का प्रसंग उपस्थित कर देते हैं कि इन सूत्रों में व्यावहारिक सत्ता का वर्णन है। व्यावहारिक दृष्टि से ही ईश्वर में कर्तृत्व आदि होते हैं अतः सूत्रों में जहां-जहाँ सृष्टि उत्पत्ति आदि का वर्णन है वह सब व्यावहारिक स्तर का बोध कराने वाले सूत्र हैं। लेकिन इस पर हम पूछ सकते हैं कि सूत्रों में कहां स्तर-भेद की बात कही गयी है ? वास्तविकता यह है कि वेदान्त दर्शन में जगत की वास्तविकता का वर्णन इतने अधिक व स्पष्ट रूप से किया गया है कि शंकराचार्य जी को अद्वैतवाद की सिद्धि के लिये लाचार होकर स्तर-भेद की कल्पना का शास्त्रों पर आरोप करना ही पड़ता है।

---

१. 'परमेश्वराधीनात्वियमस्माभिः प्रागवस्था जगतोऽभ्युगम्यते, न स्वतन्त्रा। सा चाऽवश्यमभ्युपगन्तव्या। अर्थवती हिसा। न हि तया विना परमेश्वरस्य सृष्ट्रत्वं सिध्यति।' शांकर भाष्य, वे० सू० १—४—३ पर से।

वास्तव में वेदान्त सूत्र न तो शंकराचार्य जी के मायावाद को मानते हैं और न स्तर-भेद को वरन् बादरायण स्पष्ट कह रहे हैं कि 'प्रतिज्ञा व दृष्टान्त के बाधक न होने से प्रकृति है।'[1] वेदान्त दर्शन मायावादी नहीं है यह स्वामी दयानन्द के अतिरिक्त अन्य विद्वान भी अब स्वीकार करने लगे हैं। स्वामी ओमानन्द अपनी पुस्तक 'पातंजल योग प्रदीप' में कहते हैं कि ब्रह्मसूत्र परिणामवादी है, अर्थात् कार्यकारण के सम्बन्ध में सूत्रकार परिणामवादी है विवर्तवादी नहीं।[2] आपके अनुसार 'आत्मकृतेः परिणामात्' (वे० सू० १-४-२६) में सूत्रकार स्पष्ट ही परिणामवाद की ओर निर्देश कर रहा है। वास्तव में ब्रह्मसूत्रों में मायावाद का आरोप नवीन वेदान्तियों का है। आपका कहना है "कि बादरायण के मूल सूत्रों पर साम्प्रदायिक पक्षपात से रहित होकर स्वतन्त्र विचार से दृष्टि डालने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अन्य सब दर्शनकारों (न्याय-वैशेषिक सांख्य व योग) के सदृश उनमें भी सांख्य और योग के द्वैत सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया है।"[3]

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदान्त प्रकृति तत्व का प्रतिपादन करता है और मायावाद की झलक इस शास्त्र में नहीं है। स्वामी दयानन्द का बिचार कि वेदान्त दर्शन में सृष्टि का निमित्त कारण ईश्वर है और उपादान कारण अनादि प्रकृति है, तर्कपूर्ण है व सूत्रों के बास्तविक तात्पर्य के साथ पूर्णरूप से मेल खाता है।

वेदान्त दर्शन में ब्रह्म-जीव में भेद

यह तो हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि वेदान्त दर्शन पर स्वामी शंकराचार्य का ब्रह्माद्वैतवादी भाष्य वेदान्त का सही-सही प्रतिनिधित्व नहीं करता। वास्तव में यह बादरायण के दर्शन के स्थान पर गौडपाद के दर्शन का ही प्रतिपादन करता है। इस विषय में भारतीय दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान श्री सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता का यह विचार है कि शंकर व गौड़पाद से पूर्व किसी भी

१: 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्।' वे० सू०, १-४-२३।
२. पातंजल योग प्रदीप, पृ० २१, ओमानन्द।
३. वही, पृ० २२।

आचार्य ने उपनिषदों के अतिरिक्त वेदान्त दर्शन का अद्वैतवादी भाष्य नहीं किया,[1] स्वामी दयानन्द के यथार्थवादी विचारों की ही पुष्टि करता है। शांकर-मत से वेदान्त में ब्रह्म के अतिरिक्त सब माया है। जीव भी अविद्या की उपाधि से संयुक्त, ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

वेदान्त दर्शन में जीव का क्या स्वरूप है ? क्या जीवात्मा ब्रह्म का ही रूप मात्र है ? इत्यादि प्रश्न एक यथार्थवादी के लिये अत्यन्त महत्व के हैं। इन प्रश्नों के विषय में महर्षि दयानन्द एक दम स्पष्ट हैं। वे वेदान्त दर्शन में जीवात्मा को ब्रह्म से पृथक मानते हैं और शंकराचार्य जी के ब्रह्म-जीव एकवाद का खण्डन करते हैं। दयानन्द अपने मत को अनेक वेदान्त सूत्रों से पुष्ट करते हैं। सत्यार्थ प्रकाश में एक स्थान पर "**नेतरोऽनुपपत्तेः**"। वे० सू० १–१–१६। का अर्थ लिखते हुए स्वामी दयानन्द कहते हैं "ब्रह्म से इतर जीव सृष्टिकर्त्ता नहीं है, क्योंकि इस अल्प, अल्पज्ञ सामर्थ्य वाले जीव में सृष्टि कर्तृत्व नहीं घट सकता। इससे जीव, ब्रह्म नहीं है।"[2] इस सूत्र के भाष्य में शंकर स्वामी भी यही अर्थ करते हैं। परन्तु आप यहां पर अविद्या को ले आते हैं कि जीव अविद्योपाधि से कल्पित है, अतः ब्रह्म से पृथक प्रतीत होता है। यही नहीं बल्कि अन्य कई सूत्रों के भाष्य में जहां भी शास्त्र में ब्रह्म व जीव का भेद कहा गया है, शंकर स्वामी वहां उसे अविद्याजन्य उपाधि से उसकी व्याख्या करते हैं।[3] यदि हम इसी उपाधिवाद को मान लें तब तो वेदान्त दर्शन ब्रह्माद्वैतवादी हो सकता है। लेकिन

---

1. "I do not know of any Hindu writer previous to Gaudapada who attempted to give an exposition of the monistic doctrine (apart from Upanishads) either by writing a commentary as did Sankara or by writing an independent work as did Gaudapada." A History of India Philosophy, V. I, P. 422.

२. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३०६।

३. 'इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा नेतरः इत्तर ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थ'। (वे० सू० १—१—१६ पर शंकर भाष्य)

प्रश्न उठता है कि ब्रह्मसूत्रों में मायावाद कहां है ? व्यावहारिक व पारमार्थिक सत्ता का भेद कहाँ कहा गया है ? और यदि हम शास्त्र की मूल भावना और वास्तविक अभिप्राय की चिन्ता छोड़कर स्वच्छन्दता से उपाधिवाद व मायावाद का आरोप शास्त्र में करते रहेंगे, तब यह कार्य क्या, ब्रह्म सूत्रों के वास्तविक अभिप्राय को तोड़-मरोड़कर अन्य रूप दिखा देना नहीं होगा ? ब्रह्मसूत्रों पर शंकर से अधिक स्पष्ट रामानुज हैं, जो शास्त्र के अभिप्राय के शंकर से अधिक निकट प्रतीत होते हैं। रामानुजाचार्य अंश-अंशी भाव से ब्रह्म व जीव में भेद मानते हैं। उनके मत में जीव मायोपाधि से नहीं होता वरन् शाश्वत और नित्य है। ब्रह्म जीव से भी अति सूक्ष्म होने से जीव में व्यापक है इससे जीव ब्रह्म के शरीरवत् है। यही ब्रह्म व जीव का शरीरी-शरीर सम्बन्ध है। रामानुज के मत में जीवात्मा अनादि और अनेक हैं। यद्यपि इनमें स्वरूप में समानता है परन्तु संख्या भेद से अनेक हैं।[1]

स्वामी दयानन्द निम्नलिखित दस वेदान्त सूत्रों पर भाष्य करते हुए जीव व ब्रह्म की पृथकता पर बल देते हैं--

१. **नेतरोऽनुपपत्तेः। १—१—१६**

२. **भेदव्यपदेशाच्च। १—१—१७**

३. **विशेषण भेद व्यपदेशाभ्यां च नेतरौ। १—२—२२**

४. **अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति। १—१—१९**

---

1. "Since thus the plurality of the eternal individual self rest on goed authority, those who have an insight into the true nature of selfs will discern without different characterstics distinguishing the individual Selfs, altnough all Selfs are alike in so far as having intelligence for their essential nature." Sacred Book of the East Series, Vol. XLVIII, "Vedanta Sutras" 2-3-43, commented by Ramanuja, Translated by Thibaut.

५. अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् । १—१—२०

६. भेदव्यपदेशाच्चान्यः । १—१—२१

७. गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् । १—२—११

८. अनुपपत्तेस्तु न शारीरः । १—२—३

९. अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् । १—२—१८

१०. शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते । १—२—२०

स्वामी दयानन्द कहते हैं उपरोक्त सूत्रों में ब्रह्म व जीव में भेद है। स्वामी दयानन्द इन सूत्रों पर लिखते हैं[1]—

(१) "ब्रह्म से इतर जीव सृष्टिकर्त्ता नहीं है, क्योंकि इस अल्प अल्पज्ञ सामर्थ्य वाले जीव में सृष्टि कर्तृत्व नहीं घट सकता। इससे जीव ब्रह्म नहीं।"

(२) 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति', यह उपनिषद् का वचन है जीव और ब्रह्म भिन्न हैं। क्योंकि इन दोनों का भेद प्रतिपादन किया है। जो ऐसा न होता तो रस अर्थात् आनन्द स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होकर जीव आनन्दस्वरूप होता है यह प्राप्ति विषय ब्रह्म और प्राप्त होने वाला जीव का निरूपण नहीं घट सकता इस लिए जीव और ब्रह्म एक नहीं।"

(३) दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरोह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥ मु० उ० २.१.२

'दिव्य, शुद्ध मूर्त्तिमत्वरहित, सबमें पूर्ण बाहर भीतर निरन्तर व्यापक, अज, जन्म-मरण शरीर धारणादि रहित, श्वास, प्रश्वास, शरीर और मन के सम्बन्ध से रहित, प्रकाशस्वरूप इत्यादि, परमात्मा के विशेषण और अक्षर नाश-रहित, प्रकृति से परे अर्थात् सूक्ष्म जीव उससे भी परमेश्वर परे अर्थात् ब्रह्म सूक्ष्म है। प्रकृति और जीवों से ब्रह्म का भेद प्रतिपादन रूप हेतुओं से प्रकृति और जीवों से ब्रह्म भिन्न है।'

(४) "इसी सर्वव्यापक ब्रह्म में जीव का योग व जीव में ब्रह्म का योग प्रतिपादन करने से जीव व ब्रह्म भिन्न है। क्योंकि योग भिन्न पदार्थों का हुआ करता है।"

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३०६ पर इनका भाष्य देखिये।

(५) "बस ब्रह्म के अन्तर्यामी आदि धर्म कथन किए हैं और जीव के भीतर व्यापक होने से व्याप्य जीव व्यापक ब्रह्म से भिन्न है। क्योंकि व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध भी भेद में संगठित होता है।"

(६) "जैसे परमात्मा जीव से भिन्नस्वरूप है वैसे इन्द्रिय अन्तःकरण पृथिवी आदि भूत, दिशा, वायु, सूर्य आदि दिव्य गुणों के योग से देवतावाच्य विद्वानों से भी परमात्मा भिन्न है।"

(७) 'गुहां प्रविष्टौ सुकृतस्य लोके' इत्यादि उपनिषदों के वचनों से जीव और परमात्मा भिन्न हैं। वैसे ही उपनिषदों में बहुत जगह दिखलाया है।'

(८) "शरीरे भवः शारीरः' शरीरधारी जीव ब्रह्म नहीं है क्योंकि ब्रह्म के गुण, कर्म स्वभाव जीव में नहीं घटते।"

(९) (अधिदेव) सब दिव्य मन आदि, इन्द्रिय आदि पदार्थों (अधिभूत) पृथिव्यादि, भूत (अध्यात्म) सब जीवों में परमात्मा अन्तर्यामी रूप से स्थित हैं, क्योंकि उसी परमात्मा के व्यापकत्वादि धर्म सर्वत्र उपनिषदों में व्याख्यात् हैं।"

(१०) "शरीरधारी जीव ब्रह्म नहीं है, क्योंकि ब्रह्म से जीव का भेद स्वरूप से सिद्ध है।"

उपरोक्त वेदान्त सूत्रों के भाष्य में स्वामी दयानन्द ने जिस आधार पर ब्रह्म व जीव के भेद का प्रतिपादन किया है, उसमें मुख्य युक्ति इस प्रकार है कि वेदान्त दर्शन में जीव को सृष्टिकर्त्ता न मानकर ब्रह्म को ही सृष्टिकर्त्ता माना है। इससे इनमें भेद है। एक सर्वशक्तिसम्पन्न है दूसरा अल्प सामर्थ्ययुक्त है। फिर सूत्र परमात्मा व जीव का योग अर्थात् सम्पर्क बताते हैं। यह भी भेद के बिना सम्भव नहीं। उपास्य-उपासक भाव भी भेद में ही बन सकता है। इसके अतिरिक्त सूत्र, जीव को शरीर धारण करने योग्य व परमात्मा को अशरीरी कहते हैं। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्। वे १–२–११। में परमात्मा व जीवात्मा का मिलन हृदय में कहा है। मिलन भी भिन्नता के बिना सम्भव नहीं। यही नहीं बल्कि सूत्रकार कहता है कि परमात्मा व जीव के विशेषणों का श्रुति में भेद कहा गया है, इसलिए भी ब्रह्म व जीव में भेद है (विशेषण भेद व्यपदेशाभ्यां च नेतरौ। वे० १–२–२२।)

इन सूत्रों को छोड़कर वेदान्त दर्शन के और अनेक सूत्र दयानन्द के मत की पुष्टि करते हैं। जैसे परमात्मा को जीवात्मा से महान् कहा गया है,[१] जीवात्मा में कर्मफल भोग प्रसक्ति है परमात्मा में नहीं[२] तथा जीवात्मा अणु है,[३] (इस सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य जी भी जीव को अणु ही मानते हैं परन्तु अद्वैत मत की पुष्टि के लिये यहां उपाधि के सिद्धान्त को लागू कर देते हैं।) वेदान्त दर्शन के चौथे अध्याय के चतुर्थपाद में ब्रह्म व जीव का भेद और भी स्पष्ट दिखायी देता है। जब कि बादरायण यह प्रश्न उठाते है कि मुक्ति में जीवात्मा के साथ मन रहता है या नहीं ? सूत्रकार कहते हैं कि बादरि मुक्ति में साधनों के अभाव को मानते हैं[४] परन्तु जैमिनि मुक्ति में मन के साधनों को जीवात्मा के साथ कहते हैं।[५] इस पर बादरायण अपना मत प्रदर्शित करते हैं कि हम दोनों को अर्थात् मुक्ति में जीवात्मा के साथ साधनों के अभाव व भाव दोनों को मानते हैं।[६] यहां पर मुख्य बात यह है कि यदि ब्रह्म व जीव एक ही हैं तब मुक्ति में जीव के रहने और उसके साथ मन आदि साधनों के रहने का क्या तात्पर्य ? तब तो मुक्ति में जीव को ब्रह्म होकर ब्रह्म में लीन हो जाना चाहिए, लेकिन बादरायण मुक्ति में जीव का ब्रह्म में लय नहीं मानते। यदि मानते तो मुक्ति में साधनों का भाव न बतलाते। इससे प्रतीत होता है कि बादरायण ब्रह्म व जीव के भेद को मानते हैं और साथ ही अगले सूत्र में स्पष्ट कहते हैं कि मुक्त पुरुष अन्य अनेक सामर्थ्यों को प्राप्त कर सकता है, परन्तु सृष्टि निर्माण नहीं कर सकता।[७] यदि जीव ब्रह्म ही होता तब मुक्ति में ब्रह्म में लीन होकर ब्रह्मरूप हो जाता और फिर सृष्टि निर्माण कर सकने में क्या दोष है जब कि वह स्वयं ब्रह्म है। सृष्टि

---

१. 'अधिकन्तु भेदनिर्देशात्'। वे० सू० २—१—२२

२. वेदान्त सूत्र १—२—२०, १—२—२२

३. 'नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्।' वे० सू० २—३—२१। इस सूत्र के भाष्य में रामानुज भी जीव को अणु मानते हैं।

४. 'अभावं बादरिराह ह्येवम्'। वे० सू० ४—४—१०

५. 'भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्।' वे० सू० ४—४—११

६. 'द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः'। वे० सू० ४—४—१२

७. 'नेतरोऽनुपपत्तेः। वे० सू० १—१—१६

निर्माण कर सकने में क्या दोष है जब कि वह स्वयं ब्रह्म है। सृष्टि-निर्माण करने में असमर्थता इस बात का द्योतक है कि जीव ब्रह्म से पृथक है क्योंकि सृष्टि निर्माण का कार्य केवल ब्रह्म का है।

वेदान्त दर्शन में ब्रह्म-जीव भेदवाद की दयानन्द की विचारधारा युक्ति-युक्त प्रतीत होती है। स्वामी जी ने इन सूत्रों पर अधिक नहीं लिखा तो भी यह हमें एक नया दृष्टिकोण देते हैं जिसके आधार पर सारे ही वेदान्त दर्शन का यथार्थवादी (त्रैतवादी) दृष्टि से सफलतापूर्वक भाष्य किया जा सकता है।

सांख्य में ईश्वरवाद

वैदिक षड्-दर्शनों में सांख्य दर्शन का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इस दर्शन के रचयिता महर्षि कपिल अत्यन्त विद्वान पुरुष थे। महर्षि कपिल का वैदिक साहित्य में बड़ा मान है। परन्तु, दार्शनिक जगत में सदियों से सांख्य दर्शन को अनीश्वरवादी माना जाता रहा है। विद्वानों का विचार है कि सांख्य शास्त्र चेतन पुरुष व जड़ प्रधान, इन तत्त्वों को ही अनादि मानता है तथा इन्हीं दोनों तत्त्वों के मेल से सृष्टि की रचना होती है। सृष्टि से पूर्व प्रकृति अपनी अव्यक्तावस्था में सत्व, रज व तम की साम्यावस्था में होती है। अव्यक्त प्रकृति के, पुरुष के सन्निध्य में आने से प्रकृति की साम्यावस्था भंग हो जाती है और तब सृष्टि-निर्माण का कार्य प्रकृति के निश्चित नियमों पर स्वयं ही प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार इन विद्वानों के अनुसार सांख्य को सृष्टि-रचना के लिये ईश्वर को मानने की कोई आवश्यकता नहीं थी, अतः कपिलाचार्य ने अपने शास्त्र में ईश्वर को कोई स्थान नहीं दिया। इससे यह विद्वान सांख्य को अनीश्वरवादी दर्शन मानते हैं। परन्तु इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि सांख्य ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता तो वह वैदिक (आस्तिक) दर्शनों में क्यों गिना जाता है? इसका उत्तर विद्वान इस प्रकार देते हैं कि वैदिक दर्शनों में आस्तिक व नास्तिक का अर्थ ईश्वर को मानने या न मानने से नहीं है, वरन् यहां पर वेद को स्वतः प्रमाण मानने वाले ग्रन्थ आस्तिक तथा वेद की निन्दा करने वाले ग्रन्थ नास्तिक कहलाते हैं, जैसा कि मनु कहते है 'नास्तिको वेद निन्दकः'। (मनुः २-११) और क्योंकि सांख्य शास्त्र वेदों को स्वतः प्रमाण मानता है,

इससे सांख्य दर्शन आस्तिक दर्शन है। परन्तु हमें इन विद्वानों का यह तर्क कुछ जंचा नहीं कि केवल वेदों को स्वतः प्रमाण मानने पर कोई दर्शन आस्तिक हो जायेगा फिर चाहे वह ईश्वर को माने या न माने। हमारे विचार से, वेदों को स्वतः प्रमाण मानने वाला शास्त्र कभी भी अनीश्वरवादी हो ही नहीं सकता, क्योंकि चारों वेदों में स्थल-स्थल पर ईश्वर का व्याख्यान पाया जाता है। अतः वेद को स्वतः प्रमाण मानने वाले सांख्य को उन स्थलों को मानना ही पड़ेगा। फिर समझ में नहीं आता कि सांख्य अनीश्वरवादी कैसे है। कहीं विद्वान किसी भ्रान्ति के कारण तो सांख्य पर नास्तिकता का आरोप नहीं लगा रहे?

सांख्य दर्शन अनीश्वरवादी है या नहीं, इस विषय पर दयानन्द अत्यन्त स्पष्ट हैं। उनका कहना है कि सांख्य ईश्वरवादी शास्त्र है तथा कपिलाचार्य पर अनीश्वरवाद का आरोप मिथ्या है।[1] दयानन्द के अनुसार सांख्य में ईश्वर का वर्णन, जगत के निमित्त कारण, कर्मफल प्रदाता, वेदों के आदिस्रोत के रूप में पाया जाता है। सांख्य के विषय में दयानन्द की यह घोषणा बड़ी साहसपूर्ण है। अतः हमें इसके औचित्य को देखने का प्रयास आवश्यक प्रतीत होता है।

सांख्य दर्शन ईश्वरवादी ग्रन्थ है, दयानन्द के इस दावे को हम यहाँ दो प्रकार से देखेंगे—(१) सांख्य शास्त्र के अतिरिक्त दूसरे वैदिक शास्त्रों से तथा (२) स्वयं सांख्य शास्त्र में पाये जाने वाले ईश्वरवादी तत्त्वों से।

(१) **दूसरे वैदिक शास्त्रों को सांख्य के विषय में सम्मति**—वैदिक साहित्य में सांख्य शास्त्र का अपना विशिष्ट महत्व है। इस शास्त्र में सन्निहित ज्ञान के कारण दार्शनिक साहित्य में इस शास्त्र व इसके रचयिता महर्षि कपिल की बड़ी प्रशंसा की गयी है। श्वेताश्वेतरोपनिषद् में महर्षि कपिल को परमात्मा द्वारा ज्ञान दिया जाना बताया है। उपनिषद् कहता है **'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति,'**[2] अर्थात् (जो) परमात्मा पहिले उत्पन्न हुये कपिल मुनि को ज्ञान से भर देता है। इस स्थल पर इसका स्पष्ट संकेत है कि महर्षि कपिल ब्रह्मज्ञानी थे और यह ज्ञान उन्हें स्वयं परमात्मा ने दिया था। इसके अतिरिक्त महाभारत

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १८८।

२. श्वेत उ०, ५–२

में कपिल को ब्रह्मा के सात मानस पुत्रों—सनत्कुमार, सनक, सनन्दन, सनत्सुजात, सन, सनातन व कपिल – में बताया है। शा० पर्व० ३४०-६७। इन्हें जन्म से ही ज्ञान था। कपिल सांख्य शास्त्र का प्राचीन आर्य राजाओं के मध्य बड़ा सन्मान था। महाराजा जनक स्वयं एक ब्रह्मज्ञानी थे। महाभारत में जिक्र आता है कि कपिल के शिष्य आसुरि के चेले पंचशिख ने जनक जी को सांख्य शास्त्र का उपदेश किया था। (शा० प० २१८)। और भीष्म ने सांख्यों के ज्ञान की योग्यता को स्वीकार करते हुये कहा था कि सृष्टि उत्पत्ति में सांख्यों ने जो ज्ञान दिया वही पुराण, इतिहास आदि में पाया जाता है। यहीं नहीं वरन् यहां तक कहा गया है कि **'ज्ञानं च लोके यदि हास्ति किंचित् सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन्'**। (म० शा० प० १०१, १०९) अर्थात् संसार में जो भी ज्ञान है वह सब सांख्यों से ही प्राप्त होता है। इसीलिये हम देखते हैं कि समस्त प्राचीन वैदिक दर्शन साहित्य कपिल के ज्ञान की उपयोगिता को स्वीकर करता है तथा महर्षि कपिल के अगाद ज्ञान के कारण ही कपिल को परमर्षि की उपाधि दी गयी है,— **'सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते'**। महाभा० १२-३४९-६५।

उपरोक्त वर्णन के अतिरिक्त गीता में भी महर्षि कपिल को सर्वोच्च सिद्ध माना गया है। योगिराज कृष्ण परम सिद्ध पुरुष थे। वे ब्रह्मज्ञानी थे। हिन्दु शास्त्रों में तो उन्हे भगवान् अर्थात् स्वयं ब्रह्म कहा गया है। गीता के अ० १०-२६ में कृष्ण अपनी विभूतियों को बताते हुए कहते हैं **'सिद्धानां कपिलो मुनिः'** अर्थात् सिद्धों में मैं कपिल मुनि है। प्रश्न उठता है कि यदि कपिल अनीश्वरवादी होते तो श्रीकृष्ण अपनी तुलना कपिल मुनि से क्यों करते ? क्या औपनिषदिक ऋषियों में कोई भी नास्तिक कहे जाने वाले कपिल मुनि से श्रेष्ठ न था जिससे श्री कृष्ण अपनी तुलना कर सकते ? कपिल मुनि जन्म से ही अतिशय धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य को प्राप्त हुये पुरुष थे, अतः श्री कृष्ण ने सिद्ध पुरुषों में अपनी समानता का कपिल मुनि को ही चुना। इससे यही पता चलता है कि कपिल मुनि अनीश्वरवादी न थे वरन् वैदिक महर्षियों की श्रेणी में अग्रणी थे। यही नहीं वरन् महाभारत, गीता व उपनिषदों के अतिरिक्त और भी जितना वैदिक साहित्य है, हमारे विचार में तो, इसमें कहीं भी सांख्य का अनीश्वरवादी

होना नहीं पाया जाता। डा० राधाकृष्णन् ने सांख्य के दो प्रसिद्ध आचार्य आसुरि व पंचशिख को स्पष्ट ही ईश्वरवादी बताया है।[1]

सांख्य को अनीश्वरवादी समझने की प्रवृत्ति का कारण—संस्कृत साहित्य का अवलोकन करने से पता चलता है कि सांख्य शास्त्र को नास्तिक समझने की प्रवृत्ति मध्यकाल से चली है। इस प्रवृत्ति के चलने में दो मुख्य कारण थे,[2] (१) ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका तथा (२) शंकराचार्य द्वारा अपने ग्रन्थों में सांख्य की नास्तिक कहकर आलोचना करना।

(i) **ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका**—सांख्यकारिका की रचना ईश्वर कृष्ण ने की थी। इस शास्त्र की रचना कुछ इस प्रकार की गयी है कि पाठकों को यह अनुभव होने लगता है कि सांख्यों के मतानुसार सृष्टि की रचना बिना ईश्वर के भी हो सकती है।[2] विद्वान पुरुष कारिकाओं को सांख्य सूत्रों से अधिक प्राचीन मानते हैं अतः उन्हें ही सांख्य सिद्धान्त का प्रधान स्रोत मानकर सांख्यों को नास्तिक कह देते है। परन्तु हमारी दृष्टि में यह उनकी भूल है।

सांख्य शास्त्र के आदि वक्ता महर्षि कपिल थे, कपिल के शिष्य आसुरि थे। इनके बाद पंचशिख, जैगषव्याचार्य, विन्ध्यवासी (रूद्रिल), पाराशर, व्यास, ईश्वर कृष्ण तथा विज्ञान भिक्षु हुये हैं। सांख्य साहित्य में आता है कि महर्षि कपिल ने सांख्य सिद्धान्त का उपदेश आसुरि को किया था। यही उपदेश रूपी ज्ञान भविष्य में सांख्य सिद्धान्त कहलाया। यह सूत्र रूप में था। आसुरि मुनि ने इस ज्ञान को पंचशिखाचार्य को दिया। कहा जाता हैं कि पंचशिखाचार्य ने इस शास्त्र का विस्तार किया। बाद में वार्षगण्याचार्य ने **षष्टितन्त्र** नामक ग्रन्थ लिखा। इसमें साठ प्रधान विषयों की व्याख्या है। इस षष्टितन्त्र के आधार पर ही ईश्वर कृष्ण आर्य ने सांख्यसप्तति अर्थात् **सांख्यकारिका** की रचना की। यहां हम यह पाते हैं कि ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका सांख्य साहित्य में बहुत बाद में जाकर बनी।

---

1. "Both Asuri and Panchsikha adhere to a theistic Samkhya and believe in supremacy of Brahman."
Dr. S. Radha Krishanan, I. P.' V. 2P. 253

२. देखिये 'गीतारहस्य' ले० बा० ग० तिलक, पृ० १६२ (पादटिप्पणी)।